Vol. IV, No. 4 (Oct.-Dec.) 2017 ISSN : 2350-0611

Research Highlights

JIFE Impact Factor - 3.235
Approved by UGC (Journal No. - 48441)

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal Related to Law, Literature, Commerce, Science, Social Science, Management, Communication and Medical

Editor :
Dr. Kamlesh Kumar Singh

Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

CONTENTS

'Research Highlights'

➲	धर्म ***सन्तोष कुमार***	01-05
➲	युग चेतना में गॉधी जी और अम्बेडकर जी की भूमिका ***डॉ मनोज कुमार सिंह***	06-08
➲	भारत में स्थानीय स्वशासन ***डॉ. रविप्रताप सिंह***	09-11
➲	**मनोरोग चिकित्सा में मन्त्र, स्तोत्र, अनुष्ठान आदि का प्रयोग और प्रभाव** **गोविन्द चन्द्र द्विवेदी**	12-17
➲	भारतीय पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि ***अमित कुमार यादव***	18-20
➲	भारत में बहुदलीय शासन प्रणाली तथा संविद सरकारों के बदलते आयाम ***कु0 पूनम***	21-27
➲	भारत–पाकिस्तान सम्बन्धः काश्मीर समस्या के संदर्भ में ***राकेश चन्द्र प्रसाद राय***	28-31
➲	भारतीय पुर्नजागरण तथा पंडित मदन मोहन मालवीय ***डॉ0 पूनम पाण्डेय***	32-38
➲	बैगा जनजाति का सामाजिक संरचना ***परमात्मा प्रसाद बैगा***	39-40
➲	किलों के स्थापत्य का क्रमिक विकास ***विवेक सिंह***	41-44
➲	वेदों में नारी का स्वरूप ***सविता***	45-49
➲	युग द्रष्टा क्रान्तिकारी अज्ञेय ***डॉ गणेश रजक***	50-52
➲	**मुंशी प्रेमचंद के उपन्यासों में कृषक जीवन** ***अवनीश सिंह***	53-55
➲	भक्ति आन्दोलन में कबीर ***अंशुमान सिंह***	56-59
➲	भक्ति आन्दोलन की सामाजिक दृष्टि और कबीर ***अंतिमा चौधरी***	60-64
➲	डॉ0 रामकुमार वर्मा जी के गद्य में आलोचना, निबन्ध एवं संस्मरणात्मक साहित्य ***डॉ0 कर्मेन्द्रसिंह सेंगर***	65-67
➲	नैषधीयचरित् महाकाव्य में दार्शनिकात ***ओम प्रकाश सिंह***	68-70

भारतीय पुर्नजागरण तथा पंडित मदन मोहन मालवीय

डॉ0 पूनम पाण्डेय*

स्वच्छ धवल वस्त्रों से सज्जित सिर पर वही पेटेण्ट साफा, ललाट पर चन्दन की सुन्दर बिन्दी, इकहरा बदन, सात्विकता से उद्भाषित मुख–मण्डल अत्यन्त गौर वर्ण, मधुर वाणी तथा निष्कलुष आचार वाला आकर्षक व्यक्तित्व था, पण्डित मदन मोहन मालवीय जी का। मालवीय जी का जन्म 25 दिसम्बर 1861 ई0 को बुधवार के दिन प्रयाग में लालडिगी मुहल्ले में हुआ था। मालवीय जी के पिता का नाम पण्डित ब्रजनाथ था। इनकी माता का नाम मूना देवी था जो अत्यन्त सरल स्वभाव की महिला थी। उनके पितामह प्रेमधर संस्कृत के विद्वान थे तथा इनके पिता भी सदाचारी और श्रीमद्भागवत के कथा – वाचक थे। मदन मोहन जी 8 भाई – बहन थे। सन् 1881 ई0 में बीस वर्ष की आयु में कुंदन देवी के साथ इनका विवाह हुआ। इनके चार पुत्र तथा तीन पुत्रियां थी।

शुरू से ही मालवीय जी का झुकाव सामाजिक व रचनात्मक कार्यों में था। इनका संध्या दल था, जो संध्योपासन हेतु यमुना तट पर इकट्ठा होता था तथा दूसरा दल व्याख्याता दल था, जो धार्मिक भाषण व धार्मिक प्रचार करता था।

मालवीय जी बड़े उदार हृदय वाले दयालु व्यक्ति थे, उनके मन में कभी कोई छोटी बात या संकुचित भावना आई ही नहीं इसीलिए वह ''महामना'' कहलाये अर्थात् ''ऊँचे या महान मन वाला''। प्राचीनता और आधुनिकता का सुन्दर संगम उनके व्यक्तित्व में था। उन्हें भारतीय जीवन का पूर्ण, व्यापक तथा विस्तृत ज्ञान व अनुभव था। राष्ट्रीय जीवन का कोई भी पक्ष उनकी सेवा से अछूता नहीं था। अंग्रेजी के अच्छे वक्ता होने के साथ – साथ उन्हें हिन्दी, संस्कृत तथा उर्दू साहित्य में भी पांडित्य प्राप्त था। वे अपने भाषणों में प्रायः निम्न सूक्ति का उद्धरण देते थे–

''अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वयेन दैन्यं न पलायनम्''

अर्जुन की दो प्रतिज्ञाएं हैं कि न तो वह किसी के सामने दीनता दिखाएगा तथा न पीठ दिखाकर भागेगा। इस वाक्य को उन्होंने स्वयं के लिए भी आत्मासात किया था।

मालवीय जी के परिवार की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं होने के कारण उनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर तथा संस्कृत पाठशाला में हुई थी। 1879 ई0 में 18 वर्ष की अवस्था में हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद वे न्योर कालेज में पढ़ने लगे। कालेज में वह नाटक ''मर्चेंट ऑफ वेनिस'' की महिला पात्र पोर्शिया का बहुत ही खूबी से मंचन किये तथा ''आर्य नाटक मण्डली'' में 'शकुंतला' का अभिनय किया। सन् 1884 में मालवीय जी ने 40 रू मासिक वेतन पर अध्यापक की नौकरी कर ली।

मालवीय जी ने अपने गुरू आदित्यराम भट्टाचार्य के आदेशानुसार 'प्रयाग हिन्दू समाज' नामक संस्था के संचालन में सक्रिय सहयोग किया। इस संस्था के साथ मदन मोहन मालवीय जी ने 'लिटरेरी इंस्टीट्यूट' नामक संस्था की भी स्थापना की जहाँ साहित्यिक चर्चाएँ हुआ करती थीं। मालवीय जी बालकृष्ण द्वारा सम्पादित पत्रिका 'हिन्दी प्रदीप' में लेख लिखा करते थे।

1882 ई0 में माघ मेले में इन्होंने भाषण द्वारा धार्मिक प्रचार किया, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई। वह धार्मिक सिद्धान्तो और स्वदेशी प्रचार कार्य में रत रहते थे।

मालवीय जी के भाषण से सन् 1884 ई0 में राष्ट्रीय महासभा के मंच पर काला कांकर के स्वर्गीय राजा रामपाल सिंह काफी प्रभावित हुए उन्होंने इन्हें दो सौ रूपये मासिक पर 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक बनाने का प्रस्ताव रखा तथा इसके लिए वकालत पढ़ने की शर्त रखीं, जिसे उन्होंने स्वीकार तो किया किन्तु इस शर्त के साथ ही जिस समय संचालक राजा साहिब मद्यपान किये हो उस समय

* एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

वे इनसे न बोले साथ ही न अपने पास बुलाये। किन्तु यह शर्त 1889 में टूट गयी और वे नौकरी छोड़कर चले गये।

1924 ई0 में उन्होंने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का दायित्व अपने ऊपर ले लिया और उन्हीं के प्रयासो से इसका हिन्दी संस्करण भी प्रकाशित किया जाने लगा।

वकालत को बुरा पेशा मानते हुए भी वे मित्रों की बात टाल न सके। मालवीय जी ने 1829 में एल.एल.बी. की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। शीघ्र ही पं0 बेनीराम के साथ प्रैक्टिस शुरू की। बाद में स्वतन्त्र रूप से स्वतः प्रैक्टिस आरम्भ कर दी।

पं0 मदन मोहन मालवीय की वकालत इतनी चमकी की वे उसमें इतने व्यस्त रहने लगे की उन्हें अपने दैनिक कार्यों के लिए भी समय का अभाव होने लगा। सन् 1908 ई० में उन्होनें वकालत कम करने का निश्चय किया, किन्तु 1913 में उन्होंने पूरी तरह वकालत छोड़ देने का निश्चय किया तथा अपने उच्च आदर्शो की प्राप्ति के लिये प्राण पण से जुट गये। 5 फरवरी 1922 को देशभक्तों ने चौरी – चौरा पुलिस थाने में आग लगा दी, परिणास्वरूप 225 व्यक्ति बन्दी बनाए गए। उनके ओर से कोई पैरवी के लिए तैयार नहीं था। उस समय राष्ट्रप्रेम से ओत–प्रोत मालवीय जी ने मुकदमा अपने हाथ में लेने का निश्चय कियाा। मुकदमे की पैरवी करते हुए उन्होनें अद्भुत बहस थी। मुख्य न्यायाधीश पिगट ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा कि 'जिस विस्मयजनक योग्यता के साथ आपने इस मुकदमे में बहस की है, उसके लिए सभी अभियुक्त और उनके परिवार आपके कृतज्ञ होंगे।'

मालवीय जी ने जिस भारत में जन्म लिया वह दासता की दुर्गन्ध से दूषित था यद्यपि प्रबुद्ध भारतीयों द्वारा अपने देशवासियों के परित्राण के लिए प्रयत्न प्रारम्भ हो चुके थे, फिर भी ब्रिटिश सत्ताधारी ऐसे प्रयत्नों को अपने राजनैतिक एवं सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के माध्यम से विफल करने का निरन्तर षडयन्त्र कर रहे थे।

पण्डित मदन मोहन के कार्यकाल में भारत में भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन एवं सामाजिक पुर्नजागरण का प्रार्दुभाव हो रहा था। मालवीय जी के कार्य काल में पुर्नजागरण की निम्नलिखित मूल प्रवृत्तियाँ उभर रही थीं–

1. भारतीय संस्कृति तथा परम्परा के आधुनिकीकरण का प्रयास शुरू था। स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज द्वारा आधुनिक शिक्षा के साथ – साथ वैदिक कालीन संस्कृति के पुर्नस्थापना का प्रयास किया जा रहा था।
2. परम्परागत भारतीय संस्थाओं में व्याप्त कुरीतियों के प्रति विद्रोह तथा उनमें सुधार का प्रयास जैसे बाल विवाह, सती प्रथा, विधवा विवाह, जाति प्रथा और हिन्दू समाज में ब्राह्मणों के शोषण जैसी समस्याओं के विरूद्ध संगठित स्वर उठ रहे थे।
3. राजनीतिक क्षेत्र में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक राष्ट्रवादी संस्था के रूप में संगठित हो चुकी थी और गांधी जैसे नेताओं के कार्यों के प्रचार में लगी थी।

मालवीय जी स्वयं को पुर्नजागरण की इन प्रवृत्तियों से अछूता नहीं रख सकते थे। हिन्दू समाज और संस्कृति का उत्थान, निर्धनता का उन्मूलन, हरिजन का उद्धार, साथ ही भारत की प्राचीन सभ्यता का आधुनिकीकरण करना मालवीय जी का प्राथमिक लक्ष्य बन गया। वे भारतीय समाज को आधुनिक बना कर सांस्कृतिक पुर्नजागरण करना चाहते थे। राजनीतिक आधुनिकीकरण उनकी प्राथमिक नहीं थी। भारत में 18 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अज्ञानता तथा अन्धविश्वास के कारण धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक रीति – रिवाजों के क्षेत्र में ऐसी कुप्रथाएं प्रचलित हो गयी थी, जिनकी उपस्थिति में भारतीय जनता निरन्तर पतन की ओर अग्रसर हो रही था। ऐसे में दासता की बेड़िया और मजबूत हो रही थी।

ऐसे में पुनर्जागरण उस काल की माँग थी जिसके सन्दर्भ में अनेक सुधारको के नाम आते रहे है, जिनमें सुधारवादी जागृति के जनक राजाराम मोहन राय, दादा भाई नौराजी, स्वामी दयानन्द,

गोपाल कृष्ण गोखले के साथ ही महामना मदन मोहन मालवीय तथा गाँधी जी का योगदान उल्लेखनीय है।

भारत अंग्रेजी दासता में जकड़ा हुआ था। प्रारम्भ से ही अंग्रेजो का राजनैतिक दर्शन यही था कि जब जहाँ जितना सम्भव हो भारत को खण्डित किया जाए। सौभाग्य से भारत में मध्य युग से ही संतो और सुधारकों द्वारा 'भारत छोड़ो' अभियान प्रारम्भ किया जा चुका था। ब्रिटिश कालीन सन्तों और सुधारको ने इसे अधिक वेग, अधिक बल से आगे बढ़ाया। इस अभियान में पण्डित मदन मोहन मालवीय जी की भी वीरोचित भूमिका रही।

राष्ट्रोत्थान के लिए उनके मन में अनन्त आकांक्षाएं थी जो उनके विचार व व्यवहार से स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। यद्यपि कुछ लोगों का विश्वास था कि पण्डित मदन मोहन मालवीय मुसलमानों से द्वेष रखते थे परन्तु ऐसी बात नहीं थी। वे कदापि साम्प्रदायिक नहीं थे। उन्होनें हिन्दू मुस्लिम एकता को मजबूत बनाने के लिए सर्वथा अथक प्रयास किया।

असहयोग आन्दोलन की विफलता के बाद सन् 1921 में दिल्ली में मौलाना मुहम्मद अली के घर में महात्मा गांधी ने 21 दिन का उपवास किया था। उस समय मालवीय जी ने वहीं उन्हें श्रीमद्भागवत का साप्ताहिक पारायण सुनाया था। सारा देश इस बात से चकित था। यह एक नवीन बात थी कि एक मुसलमान के घर पर सात दिनों तक श्रीमद्भागवत का पाठ हो और वह भी पण्डित मदन मोहन मालवीय द्वारा। इससे बढ़कर हिन्दू – मुस्लिम एकता का दूसरा उदाहरण कोई हो ही नहीं सकता।

28 जून 1933 को लाहौर की एक आम सभा में उन्होनें कहा, "हिन्दू बलवान होकर मुसलमानों को तकलीफ दे, ऐसी मेरी स्वप्न में भी कल्पना नहीं है।..... मेरी सदा ऐसी इच्छा है कि हिन्दू व मुसलमान शक्तिमान हो और जगत के अन्य समाजों के साथ खड़े होने लायक बनें। हिन्दू और मुसलमान एकत्र हों और उनके अखाड़े भी एक ही हो। ऐसी मेरी प्रबल इच्छा है।"

पण्डित मदन मोहन मालवीय चाहते थे कि प्रत्येक हिन्दू पक्का हिन्दू और प्रत्येक मुसलमान पक्का मुसलमान बने। उनका आग्रह था कि सभी धर्मावलम्बियों का मुख्य धर्म देशभक्ति होना चाहिए। सार्वजनिक जीवन में महामना के हृदय में हिन्दू, मुसलमान, अंग्रेज एवं इसाई का कोई भेदभाव नहीं था। आप 'सर्वभूतहितेरता' सिद्धान्त के अनुसार प्राणिमात्र का कल्याण चाहते थे।

मालवीय जी ने महात्मा गांधी से पूर्व, सन् 1909 में केन्द्रीय विधान परिषद में दलित वर्ग की दुर्दशा के प्रति ब्रिटिश सरकार का ध्यान आकृष्ट किया था। सन् 1925 में कांग्रेस के एक अधिवेशन के समय मंच पर मदन मोहन मालवीय जी ने एक हरिजन के साथ जल ग्रहण किया था। उनका यह कार्य असाधारण था। यह बात किसी से छिपी नहीं थी कि वायसराय की पार्टियों में भी उन्होनें कभी चाय या जल नहीं पिया था। छूआ – छूत की भावना के मालवीय जी घोर विरोधी थे। उन्होने अपने भाषणों में अस्पृश्यता का विरोध किया। उस समय असवर्ण लोगों को नीच दृष्टि से देखा जाता था। पहले हरिजनों को मन्दिर के द्वार पर भी नहीं जाने दिया जाता था। परन्तु मालवीय जी ने प्रयत्न करके उन्हें मन्दिर में जाने का अधिकार दिलाया और वे गर्भगृह में न जाकर दूर से दर्शन करने के अधिकारी बने सवर्णों के विरोध के बावजूद भी मालवीय जी ने उक्त प्रस्ताव पारित कराया। अन्त्यजों को सवर्णों के समान अधिकार दिलाने की पृष्ठभूमि तैयार की। मालवीय जी का मानना था कि वर्तमान स्थिति को देखते हुए नियमों में ढील दी जानी चाहिए।

हिन्दू समाज के विघटन को रोकने व इस संकट से बचाने के लिए पण्डित मदन मोहन मालवीय ने 'शुद्धि सभा' की स्थापना की। मालवीय जी की "शुद्धि सभा" और गांधी जी का हरिजन आन्दोलन प्रायः समान उद्देश्य से प्रेरित थे। गांधी जी चाहते थे कि अछूतों को समाज में समान अधिकार मिले, सार्वजनिक स्थानों और संस्थाओ में उनका प्रवेश हो और विधि द्वारा उन्हें मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार हो।

हिन्दू – मुस्लिम ऐक्य तथा शुद्धि आन्दोलन के साथ – साथ पण्डित मदन मोहन मालवीय जी का तीसरा समाज सुधार उपक्रम 'स्काउटिंग' का प्रचार – प्रसार था।

शाहजहाँपुर (उत्तर प्रदेश) के कुछ समाजसेवी सज्जनों ने सन् 1918 में भारत स्काउट आन्दोलन के प्रमुख नेता और उस समय रेलवे कर्मचारी पण्डित राज बाजपेयी की देखरेख में स्थानीय उत्सवों और मेलों के अवसरों पर जनता की सेवा के लिए 'सेवा समिति' की स्थापना की थी। इसकी एक शाखा प्रयाग में भी खोली गयी। श्री राज बाजपेयी ने सेवा समिति के अन्तर्गत एक 'बालचर मण्डल' की स्थापना भी की।

सन् 1918 में प्रयाग में अखिल भारतीय सेवा समिति बॉय स्काउट एसोसिएशन की स्थापना की गई पण्डित मदनमोहन मालवीय "चीफ स्काउट" बने और पण्डित हृदयनाथ कुंजरू "चीफ स्काउट कमिश्नर"। इस एसोसिएशन का आर्दश वाक्य मालवीय जी ने महाभारत से चुना था –

न त्वंह कामेयराज्यं न स्वर्गम् नापुर्नभवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनां आर्शिनाशम्।

भारतीय बालचरों का वन्दना–गान "वन्दे मातरम्" था और वे ब्रिटिश सम्राट के प्रति नहीं देश के प्रति भक्ति की शपथ लेते थे।

विभिन्न अवसरों पर पण्डित मदन मोहन मालवीय ने स्वयंसेवको को उत्साहवर्धक एव ओजपूर्ण भाषणों द्वारा मानव मात्र की निष्काम सेवा और मातृभूमि की अडिग भक्ति की अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रेरणा प्रदान की।

किसी भी समाज में कुछ कलुषित परम्पराएं या प्रथाएं कायम हो जाती हैं जो कि समाज को विकास के पथ पर अग्रसर होने में बाधक होती है। जिनमें सुधार लाना अपरिहार्य हो जाता है। देश के पुर्नजागरण और सुधारवादी परिवर्तन के लिए यह देश का पश्चिमीकरण करना सुधार का अग मानते थे। वे जानते थे कि ब्रिटिश शासकों में जातीय श्रेष्ठता की भावना कूट–कूटकर भरी हुई थी, अतः मालवीय जी सुधार और प्रगतिशील परिवर्तन भारतीय पृष्ठभूमि में करना चाहते थे और भारतीय संस्कृति को हर कीमत पर कायम रखना चाहते थे तथा ये प्रगति के लिए भारतीय सभ्यता और संस्कृ ति को ही महत्वपूर्ण मानते थे। मालवीय जी किसी भौतिक उन्नति के स्वरूप को बदलने के पक्षधर नहीं थे।

मालवीय जी पर्दा प्रथा के विरोधी थे इनके अनुसार – भारतीय स्त्री को घर के बाहर पुरूषोचित आत्मबल से युक्त होना चाहिए। मालवीय जी ने कहा था कि "मैं चाहता हूँ कि हमारे देश की सभी स्त्रियां अंग्रेज महिलाओं की भांति पिस्तौल और बन्दूक रखे और उनको चलाना सीखें। वे किसी भी आक्रमण से अपने सतीत्व की रक्षा कर सकें। राष्ट्रीय आन्दोलन में भी पुरूषों की भाँति स्त्रियों को आगे आने का आह्वान उन्होने किया था। हम देखते हैं कि मालवीय जी परम्पराओं में सक्रिय परिवर्तन के पक्षधर थे और वह जो कुछ परिवर्तन आवश्यक समझते थे, उस विषय में केवल विचार ही व्यक्त नहीं करते थे, बल्कि उस क्षेत्र में सक्रिय नेतृत्व भी करते थे।

मालवीय जी ने नाबालिग लड़कियों के अनैतिक व्यापार, वेश्याओं द्वारा छोटी लड़कियों को गोद लेने तथा पत्नियों के हस्तान्तरण जैसे घृणित व्यवहार की जोरदार आलोचना की।

वे बाल – विवाह के विरोधी थे। बाल – विवाह का विरोध करते हुए मालवीय जी ने कहा था कि हमें नरक में जाना स्वीकार है परन्तु बाल विवाह करना स्वीकार नहीं है। उनके मतानुसार अल्पायु में बालक और बालिकाओं का विवाह करने पर उनका बल घट जाता है।

स्त्रियों के बाल विवाह के कारण बढ़ती हुई विधवाओं की संख्या का समाज में सम्मानपूर्ण समायोजन करना उस युग की अत्यंत मुश्किल समस्या थी। शास्त्रों द्वारा पुरूषों को तो अनेक विवाहो की अनुमति दी गई है, किन्तु स्त्रियों के उपर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये है। हिन्दू समाज में विधवा को अशुभ माना जाता था। किन्तु मालवीय जी ने विधवा पुर्नविवाह का समर्थन किया। उनके अनुसार

– 'यदि विधवा चाहे तो उसका पुर्नविवाह कर देना चाहिए। परन्तु इस सम्बन्ध में सनातन धर्मियों की सभा की जानी चाहिए और निर्णय के अनुसार सब काम होना चाहिए।

मालवीय जी भारतीयों को शिक्षित करने के प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने 28 मार्च 1910 ई0 में प्रस्तुत गोखले के प्रस्ताव अनिवार्य शिक्षा का जोरदार समर्थन किया। उनके अनुसार 6 वर्ष से 10 वर्ष तक के बालक और बालिकाओं को अनिवार्य रूप से शिक्षा दी ही जानी चाहिए। किन्तु इस सम्बन्ध में इस शिक्षा को निःशुल्क बनाने पर भी उन्होंने बल दिया था।

बालिकाओं की अनिवार्य शिक्षा के प्रति भी मालवीय जी जागरूक थे। उनके मतानुसार जहाँ पर्दाप्रथा नहीं है, वहाँ शिक्षा को अनिवार्य बनाया जाना चाहिए।

मालवीय जी की प्रबल इच्छा एक भारतीय विश्वविद्यालय के निर्माण की थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पूर्ण रूप से उन्हीं की सृष्टि है। जब वह इलाहाबाद के म्योर सेन्ट्रल कालेज में पढ़ने लगे तब वहाँ उन्हें यह जानकर बड़ा क्लेश होता था कि जो अनेक भारतीय युवक उच्च शिक्षा के लिए इग्लैंड जाते थे वह अपने देश और संस्कृति के प्रति अत्यन्त कुत्सित भावना लेकर लौटते थे। मालवीय जी ने सोचा कि इसका एकमात्र समाधान यही है कि एक विश्वविद्यालय स्थापित करके उसके माध्यम से हिन्दू युवकों में भारतीय आदर्श और भारतीय जीवन पद्धति का शुद्ध संस्कार डाला जाए।

सन् 1887 में प्रयाग में विश्वविद्यालय की स्थापना हो जाने के पश्चात् उन्होंने अपने स्वप्न का विश्वविद्यालय काशी में स्थापित करने का निश्चय किया।

बी.न. महाजन की अध्यक्षता में 31 दिसम्बर 1905 को काशी में राष्ट्रिय महासभा के अधिवेशन के समय ही काशी के टाउनहाल में सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें सभी धर्मों और प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रियों के सम्मुख काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की योजना प्रस्तुत की गई। जिसका प्रस्ताव निम्न प्रकार था –

काशी में भारतीय विश्वविद्यालय के नाम से एक हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की जाए जिसके निम्नांकित उद्देश्य हो:

- श्रुतियों तथा स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म के पोषक सनातम धर्म के सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए धर्म के शिक्षक तैयार करना।
- संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन की अभिवृद्धि।
- भारतीय भाषाओं तथा संस्कृत के द्वारा वैज्ञानिक तथा शिल्पकला सम्बन्धी शिक्षा के प्रचार में योग देना।
- इस विद्यालय के अतिरिक्त अन्य सब विद्यालयों में भी सब धर्मावलम्बियों तथा सब जातियों का प्रवेश हो सकेगा तथा संस्कृत भाषा की अन्य शाखाओं की शिक्षा बिना जाति – पाति का भेदभाव किए सबको दी जायेगी। विश्वविद्यालय में संस्कृत साहित्य के समस्त अंगो, विशेषतः वेद – वेदांग, उपवेद, कल्पसूत्र, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण तथा अन्य हिन्दू राजनीतिक मूल विषयों की शिक्षा दिया जाना प्रस्तावित था।
- प्रत्येक दर्शन के लिए एक – एक सुयोग्य विद्वान नियुक्त किये जायेंगे। पूर्व मीमांसा तथा दर्शन के लिए विशेष आयोजन किया जायेगा। संस्कृत साहित्य का विशेष अध्ययन करने वालो तथा धर्मोपदेशकों के लिए पद, वाक्य तथा प्रमाण का ज्ञान आवश्यक होगा।
- उपवेदो में आयुर्वेद को विशेष महत्व दिया जायेगा। अन्य जातियों द्वारा चिकित्साशास्त्र तथा शरीर विज्ञानशास्त्र में जो आश्चर्यजनक उन्नति हुई है, वे सब भी आयुर्वेद के अध्ययन में सम्मिलित किये जायेंगे। इस विभाग का मुख्य उद्देश्य देश को वैद्यो से भर देना है। औषधि वाली जड़ी बूटियां के लिए एक वनस्पति – वाटिका बनाई जाए तथा रसो, तेलो, आसवों के लिए प्रयोगशाला भी।

- सबसे मुख्य कार्य नवीन रूप से स्थापत्यवेद अथवा अर्थशास्त्र के अध्ययन का क्रम होगा। भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र प्रयोगात्मक तथा सैद्धान्तिक दोनों पढ़ाए जायेंगे। कातना, बुनना, रंगसाजी, छापने का काम, शीशे का काम तथा अन्य उपयोगी काम यहाँ सिखाए जायेंगे।
- भारत कृषि – प्रधान देश है। कृषि की उन्नति के लिए इस विश्वविद्यालय में कृषि – सम्बन्धी शिक्षा भी दी जाएगी। अधिक परिमाण और गुणवाले फल तथा अन्न उपजाने की शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी।
- गन्धर्ववेद व अन्य ललित कलाओं का मुख्य उद्देश्य धर्म तथा अर्थ की शिक्षा देना होगा। वास्तविक सभ्यता के रहस्य को समझ कर उन्होने मानव आनन्द के विषय संगीत, काव्य, नाट्यकला, चित्रकला, वास्तुकला तथा मूर्तिकला जिसमें मानव ने पर्याप्त उन्नति की थी, विश्वविद्यालय में सिखायें जायेंगे तथा विश्वविद्यालय इस बात का प्रयत्न करेगा कि इन कलाओं का पुनरूत्थान हो जिससे ये हिन्दू घरों को फिर से प्राचीन समय की भाँति अलंकृत करे।

इस विश्वविद्यालय में निम्न महाविद्यालय बनाये जायेंगे –

- आत्म – त्याग और समर्पण से निर्मित सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज इस संस्था का केन्द्र होगा।
- कला और साहित्य महाविद्यालय, जिसमें भाषाएँ तुलनात्मक भाषा – विज्ञान, दर्शन, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, शिक्षणकला आदि पढ़ाई जायेगी।
- तीसरा कॉलेज, विज्ञान और टेक्नोलॉजी का महाविद्यालय होगा। भारत की इस आर्थिक दुर्व्यवस्था में विज्ञान तथा तकनीकी की शिक्षा से बढ़कर अधिक आवश्यक कोई भी अन्य विषय नहीं। जनसंख्या के एक बड़े भाग को कृषि से हटाकर व्यावसायिक कार्यो में लगाया जाय। इसके लिए शिल्प तथा औद्योगिक शिक्षा के विद्यमान साधनों को कई गुना बढ़ाने की आवश्यकता है।
- अगला महाविद्यालय वाणिज्य तथा राज्यप्रबन्ध सम्बन्धी होगा। वाणिज्य शिक्षा, अर्थात् व्यापारिक उद्योग में प्रविष्ट होने वाले नवयुवकों के लिए शिक्षा की आवश्यकता पाश्चात्य देशो ने मान ली है जिससे देशी तथा अर्न्तदेशीय दोनों प्रकार के लाभ हो सकते है। यदि व्यावसायिक तथा व्यापारिक कला की शिक्षा के लिए सन्तोषजनक सुविधाएँ हो जाएं तो देश के असंख्य बेकार नवयुवको को कार्य मिलने में कोई कठिनाई न प्रतीत हो।
- अगला महाविद्यालय चिकित्सा विज्ञान का हो सरकार द्वारा स्थापित अनेक आयुर्वेदिक महाविद्यालय तथा पाठशालाएँ जनता के लिए हितकर कार्य कर रही थी। किन्तु देश की आवश्यकता के अनुकूल अभी सुयोग्य डाक्टरी की बहुत कमी है। एक ऐसे महाविद्यालय की स्थापना हो, जिसमें नियमित तथा स्थायी रूप से इस देश के आयुर्वेदिक ज्ञान की शिक्षा दी जाए।
- अगला संगीत तथा ललितकला महाविद्यालय का निम्न उद्देश्य व कार्य होगा– (i) प्राचीन भारत के सुरूचि सम्पन्न चिन्तकों द्वारा रागों में पोषित सौन्दर्य और भव्यता को पुनः प्राप्त करना एवं उसे सुसंस्कृत वर्ग के लिए उपलब्ध कराना। (ii) चित्रकला तथा मूर्ति कला को प्रोत्साहित करना (iii) कलात्मक वस्तुओं के उत्पाद को डिजाइन की शुद्धता की रक्षा करते हुये प्रोत्साहन देना एवं विदेशी अनुकृतियों की नकल करने की गुलाम प्रवृत्ति को रोकना।

जब हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रश्न उठा था तो यह प्रस्तावित किया गया था कि शिक्षा का माध्यम सार्वजनिक विषयों के लिये देश की कोई देशी भाषा होनी चाहिए। यह प्रस्ताव किया गया था कि वह भाषा 'हिन्दी' हो, क्योंकि देश में यही भाषा सबसे अधिक बोली तथा लिखी जाती है। यह सन् 1854 की विज्ञप्ति द्वारा प्रस्तावित इस सिद्धान्त से समर्थित है कि यूरोपीय विज्ञानों तथा कलाओं की शिक्षा भारतीय भाषाओं के द्वारा दी जाय जिससे उनका बोध सर्वसाधारण को भी हो जाय।

भारत में वर्तमान में कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लाहौर तथा इलाहाबाद में पाँच विश्वविद्यालय हैं। ये केवल परीक्षण संस्थाएँ हैं। भारत सरकार ने अपने सन् 1904 ई0 के शिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव में कहा था कि इन विश्वविद्यालयों के स्थापित करने में तत्कालीन भारत सरकार ने लन्दन विश्वविद्यालय के परीक्षण – क्रम का अनुसरण किया था। गत 50 वर्षों के अनुभवों ने भी यह प्रमाणित कर दिया है कि ये विश्वविद्यालय केवल एक विषय में विद्यार्थियों की परीक्षा लेते थे और साथ ही उनको उस विषय को नियमित रूप से पढ़ने के लिये बाध्य भी नहीं करते थे, इससे भारतीय मस्तिष्क के समुचित विकास में कुछ दोष रह जाते थे।

यदि वर्तमान विश्वविद्यालय व सभी शिक्षण संस्थायें एक भी हो जायँ तो भी देश के लिये इतने थोड़े विश्वविद्यालय से काम नहीं चलेगा। भारत के इस क्षेत्र के विकास के सम्बन्ध में मैं केवल यही कहूँगा कि इतने विशाल देश में केवल 5 विश्वविद्यालय हैं जिसका क्षेत्रफल रूस को छोड़कर सम्पूर्ण यूरोप के बराबर हैं। और केवल संयुक्त राष्ट्र में 18 विश्वविद्यालय है जिसका क्षेत्रफल भारत के एक प्रान्त के बराबर है। इस प्रकार की शिक्षा को अब राष्ट्रीयता का रूप दिया जाता है, क्योंकि इसके बिना वर्तमान व्यवसायिक युग में कोई देश अपनी स्थिति स्थायी नहीं रख सकता।

महामना आधुनिक युग के महान शिक्षा– शास्त्री थे जो तात्कालिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन चाहते थे। वह शिक्षा को चरित्र निर्माण का साधन मानते थे और पुरूषों की अपेक्षा स्त्री शिक्षा पर अधिक बल देते थे।

पं0 मदन मोहन मालवीय शिक्षा के क्षेत्र में प्राचीन धर्म, दर्शन, कला तथा आधुनिक ज्ञान - विज्ञान तथा प्राविधिकी का सुन्दर संगम चाहते थे।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पं0 मदन मोहन मालवीय जी की शिक्षा व्यवस्था का साकार रूप उनके द्वारा स्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ही है। उनकी धारणा थी कि वह शिक्षा पद्धति अपूर्ण ही नहीं निरर्थक और हानिकर है जिससे प्रत्येक नवयुवक को अपने देश और समाज की बौद्धिक सम्पदा का ठीक – ठीक ज्ञान न मिल सके।

इस प्रकार भारतीय पुर्नजागरण में मालवीय जी का योगदान अमूल्य हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में भारतीय सांस्कृतिक क्रान्ति की जिस ज्वाला को उन्होंने प्रज्जवलित किया था वह आज भी अपने अग्नि में तपाकर विद्यार्थियों को कुन्दन बना रही है जो भारतीय संस्कृति की पताका को वैश्विक पटल पर लहराकर राष्ट्रोत्थान में सहयोग दे रहे हैं।

कायाकल्प और पारिवारिक आघातों से पं0 मदन मोहन मालवीय काफी कमजोर हो चुके थे। शिवपुर गौशाला में गोपाष्टमी के दिन उन्होने गौरक्षा पर भाषण दिया। विश्वविद्यालय लौटते समय काफी रात हो गयी थी। रास्ते में ठण्ड लग जाने से ज्वर शुरू हो गया। उनकी दशा बिगड़ती गई। फलतः अपनी स्वाभाविक शान्त मुद्रा में 12 नवम्बर 1946 को 85 वर्ष की आयु में उन्होनें प्राण त्याग दिये।

किंवदन्ती है कि वह मुक्ती नहीं चाहते थे वे पुर्नजन्म लेकर भारत की सेवा करना चाहते थे।

सन्दर्भ–सूची

1. महामना के लेख – डॉ० उमेश दत्त तिवारी – महामना मालवीय फाउण्डेशन, वाराणसी–2004
2. मदन मोहन मालवीय – मदन लाल पवार – व्यतिव एवं कृतित्व, ज्योति प्रकाशन, जयपुर–2004
3. भारतीय राजनीतिक–मनोज कुमार सिंह चिन्तक–मदन मोहन मालवीय, शैलेश कुमार चौधरी–डिस्कवरी पब्लिशिंग हाउस, प्राइवेट लिमिटेड, 2008
4. महामना पं० मदन मोहन मालवीय – संक्षिप्त जीवन परिचय – डॉ० उमेश दत्त तिवारी, महामना मालवीय फाउन्डेशन – 2009

U.G. Serial No. 01, Journal No. 42486 ISSN - 0974-1526

SAMSKṚTI SANDHĀNA

Volume - XXXI No. 2 (July-December) 2018

AN INTERNATIONAL REFERRED JOURNAL

Editor

Dr. Jhinkoo Yadav

Associate Editors

Dr. Vinay Kumar, Dr. Baleshwar Prasad

JOURNAL OF THE
MANAV SANSKRITI SHODH SANSTHAN
53, Maharanapuri Colony, I.T.I. Road, Karaunal
P.O. B.H.U. Varanasi-221005 (INDIA)
Ph. No. 0542-2570220, Mob. 9451527178
e-mail: manavsanskritiss1987@gmail.com; jhinkuyadav@gmail.com
Website: www.manavsanskritiss.org

U.G.C. Serial No. 01, Journal No. 42486 ISSN - 0974-1526

SAṂSKṚTI SANDHĀNA

VOLUME - XXXI NO. 2 (July - December) 2018

AN INTERNATIONAL REFERRED JOURNAL

EDITOR

DR. JHINKOO YADAV

ASSOCIATE EDITORS

DR. VINAY KUMAR, DR. BALESHWAR PRASAD

JOURNAL OF THE

MANAV SANSKRITI SHODH SANSTHAN

53, Mahamanapuri Colony, I.T.I. Road, Karaundi, P.O. B.H.U.
Varanasi-221005 (INDIA)
Ph.No. 0542-2570220, Mob. 9451527173
e-mail: manavsanskritiss1987@gmail.com; jhinku.yadav@gmail.com
website: www.msssvaranasi.com

19. Role of Religious Institutions in Early Medieval India — Jhinkoo Yadav — 127-132
20. काशी की परम्परा में प्रासंगिक कतिपय महिलाएँ — अर्पिता चटजी — 133-138
21. प्राचीन काशी का आर्थिक विकास — सुनील कुमार पटेल — 139-148
22. कश्फुल महजूब : तसव्वुफ़ पर एक अद्वितीय पुस्तक — नुजहत फातिमा — 149-156
23. सल्तनत कालीन प्रशासन में उल्मावर्ग की स्थिति: एक संक्षिप्त अध्ययन — विजय शंकर यादव — 157-160
24. प्रकृति पर्यवेक्षक के रूप में मुगल सम्राट बाबर : बाबरनामा के विशेष संदर्भ में — गुंजन राय — 161-174
25. पर्यावरण असंतुलन को नियंत्रित करने में जैन धर्म के संयम की भूमिका — डिम्पल जैन — 175-182
26. रामकुमार के चित्रों में बनारस : आधुनिक भारतीय कला में नवीन आयाम — शशि कला सिंह — 183-190
27. The Concept of 'Tree of Life' in Gond Tribal Paintings of Madhya Pradesh : Characteristics and Significance — Nausheen Manzoor — 191-196
28. आधुनिक भारतीय कला में नटराज का स्वरूप — शिखा सोनकर — 197-203
29. मेवाड़ की सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास की व्याख्या : लोक साहित्य की दृष्टि में — राकेश कुमार भाटिया — 204-211
30. आधुनिक भारतीय कला में जनसामान्य का अंकन — Jitesh Kumar Jangid — 212-217
31. Claude Martin of Lucknow: A Small Chapter from the Heritage of Lucknow — Shalini Awasthi — 218-246
32. Government of India Act, 1935 and Rise of Indian Nationalism — Poonam Pandey — 247-259
33. विश्वविद्यालय स्तरीय कला विभाग के शिक्षकों में आधुनिक सम्प्रेषण माध्यमों के प्रति जागरूकता एवं व्यवहारिक प्रयोग का आंकलन — प्रिया जायसवाल — 260-264
34. मानवाधिकार के सन्दर्भ में दलित महिलाओं की संघर्षशील भूमिका — संगीता — 265-272

Government of India Act, 1935 and Rise of Indian Nationalism

Poonam Pandey*

Introduction

The Government of India Act, 1935, prepared the path for the final struggle for liberation of the country. The Act of 1919 was unsatisfactory and disappointing, so some of the Congress leaders, especially Motilal Nehru and C.R. Das formed the Swarajist party with the avowed object of the "wrecking the legislatures from within" and pledged to a policy of "uniform continuous and sustained obstruction with a view to make government through the assembly and the council imposable".

At last in 1935, on the basis of the Simon Commission Report, the All Parties Conference Report, the Discussion of the Three Round Table Conferences, the White Paper, the Joint Select Committee Report and the Lothian Report, the new Act was passed.

1. Nature of the Act of 1935

1.1. Nature of Provincial Autonomy

1.2. Nature of Federal Executive

1.3. Defective Federation

By the new Act, Indians, for the 1st time, had got the right of contesting elections and also got some other constitutional rights. Indirectly it increased the spirit of Indian nationalism. The new Act gave the background to Indians to fight against the British Government. For the first time they drafted their election manifestoes and they made the Indian masses aware of their social and constitutional rights. These things gave a new vision to the Indian masses and independence became a matter of 'life and death'. After this, the Indian struggle for freedom took a final turn.

The Government of India Act, 1935, prepared the path for the final struggle for liberation of the country. The Act of 1919 was

*Associate Professor, Department of Hisotry, Vasant Kanya Mahavidyalaya, Kamachha, Varanasi-221010

unsatisfactory and disappointing, so some of the Congress leaders, especially Motilal Nehru and C.R. Das formed the Swarajist party with the avowed object of the "wrecking the legislatures from within" and pledged to a policy of "uniform continuous and sustained obstruction with a view to make government through the assembly and the council imposable".

The British government virtually recognized the failure of the reforms of 1919 and appointed the 'Simon commission' in November 1927. No Indian was included in the commission and it was condemned by all streams of public opinion and completely boycotted by the Congress.

In 1928, a committee was appointed under the chairmanship of Motilal Nehru to consider and determine the principles of a constitution for India. The Committee submitted its report on 10th August 1928. The All Parties Conference met at Calcutta on 2nd December 1928 to consider the 'Nehru Report' and after some amendments it was accepted. On 31st December 1928, the Congress at its annual session, adopted this Report and declared that if this constitution was not approved by the British Parliament within a year then the Congress would organize a campaign of non violence, non cooperation, non payment of taxes etc. But the League rejected it and affirmed Mr. Jinnah's celebrated 'Fourteen Points' as being the minimum condition acceptable to the Muslims for any political settlement.

On October 31st 1929 the Viceroy made the announcement on behalf of the British Government to give 'Dominion Status for Indians'. But in this declaration there was no limitation of time. The Congress leaders were also not satisfied with the limited purpose and scope of the proposed Round Table Conference. So an interview took place between the Viceroy and Gandhiji, but led to no fruitful agreement. The Congress meeting at Lahore under the presidentship of J.L.Nehru resolved to boycott the Round Table conference and declared the nation's aim to win complete independence and authorized the All India Congress Committee to launch a Civil Disobedience Movement, which was actually started in March 1930.

The famous 'Gandhi-Irwin Pact' was signed in March 1931. After this Gandhi Ji was appointed the sole representative of the Congress to the Second Round Table Conference. But no settlement could be arrived at to solve the communal problem.

Ramsay Macdonald announced his famous 'Communal Award' in August 1932. However a little later it was partially modified by the 'Poona Pact'.

After the Third Round Table Conference, a white paper was issued in March 1933, which gave details of the working basis of a new constitution of India.

At last in 1935, on the basis of the Simon Commission Report, the All Parties Conference Report, the Discussion of the Three Round Table Conferences, the White Paper, the Joint Select Committee Report and the Lothian Report, the new Act was passed.

1. Nature of The Act of 1935

The Act of 1935 was quite a lengthy and detailed document. It consisted of 478 clauses with 16 schedules.

The Act was largely disappointing because it did not hold out assurance about granting Dominion status, nor did it consider sympathetically the feeling and urge of politically conscious Indians. The new constitution also said nothing regarding the fundamental rights of the people. It perpetuated the sovereignty of the British Parliament over India.

1.1 Nature of Provincial Autonomy

The most important provision of the Act was that being of Provincial Autonomy. But the actual nature of this Provincial Autonomy was very critical. The Governor was the head of the Provincial Executive and was expected to be guided by the advice of the popular ministers. However the Act gave arbitrary powers, under the phraseology of 'Safeguard' and 'Special responsibilities' to the Governor to Act 'In His Discretion' in matters like summoning of the Legislature, appointment of Ministers, giving or withdrawing his assent to bills passed by the Legislature etc or 'Exercise His Individual' Judgement in wide-ranging matters like prevention of grave menace to peace and tranquillity of the province, safeguarding legitimate interests of minorities and prevention of administrative discrimination against British commercial interests. Further the government was invested with legislative authority to issue ordinance valid for six months or enact Governor's Acts.

A minister held office at the Governor's pleasure. In other words, the field of ministerial responsibilities with respect to any particular matter was as wide or as narrow as the Governor might choose to make it.

It might appear that the provisions in the Act of 1935, regarding the 'Discretionary Powers' and 'Special responsibilities' of the Governor were such as might be utilized to reduce responsible government to a nullity.

1.2 Nature of Federal Executive

In the Act of 1935, Dyarchy was provided in the Federal Executive. The federal subjects were divided into two categories. The Reserved and the Transferred. Defence, External Affairs, Ecclesiastical Affairs and the Administration of Tribal areas were reserved in the hands of the Governor General. The Governor General had 'special responsibilities' regarding specified subjects as the prevention of any grave menace to the peace and tranquillity and India or any part thereof, in respect of these subjects he had full freedom to accept or to reject the advice of the Ministers.

K.T. Shah has rightly criticized the position assigned to the council of Federal Ministers as follows – "it is ornament without being useful, onerous without ever being helpful to the people they are supposed to represent, it had responsibility without power, position without authority, name without any real influence.[1]

The Act made the Governor General the pivot of the entire constitution of India. There were three different categories under which he would discharge his functions –

He had normally to act on the advice of his ministers.

I. In connection with his 'Special Responsibilities', he could and did act in his 'Individual Judgement', consulting but regarding or disregarding ministerial advice.

II. There was a third category matter in which he did not even consult his ministers, but acted in his 'Discretion'.

It was in this very limited way that 'Responsibility' was to be introduced in the Provinces and at the Center by the Act of 1935. The special powers were given to the Governor General by the Act of 1935, it was in fact a handy weapon to crush the revolutionary activities and Congress movement. Even civil liberties could also be denied at any time Dr. Rajendra Prasad in 1936 aptly remarked. "It camouflage and a fraud to declare that such and such subject had been transferred when the responsibilities with regard to them were reserved with the British. The wide powers vested in the Governor, Governor General and also in the Crown and the Parliament negative the very essence of the provincial Autonomy-the great prize award to the Indians.

1.3 Defective Federation

The proposed federation had many odd features and it was fundamentally defective. Entry into the federation was compulsory for the Provinces but Voluntary for the Princely states. The representatives of Indian Province were to be elected, while the representatives of Indian states were to be nominated by the ruling princes. Further the Indian states constituting of merely 247 of the total population of India were given 40% of the seats in the council of state and one third of seats in the Assembly. Even in Indian provinces, the distribution of the seats was not made on the basis of population but on the basis of their political importance. Another odd feature was the provision of indirect election for the Lower House (Federal Assembly) and direct election for the Upper House (Council of State). Further the British Provinces were partly autonomous units but the states were still under the autocratic rule of the Princes. The coming together of such heterogeneous units under the Federation could not but result in squabbles hindering the smooth working of the system.

Besides, the wide range of powers vested in the Governor General was a vital flaw in the proposed Federation. Such a thing was opposed to the spirit of a Federation.

The Nature of Electoral Provisions of the Act

Although the principle of communal electoral was not in the interests of the nation, yet in order to weaken the growing spirit of nationalism, the Act of 1935, not only retained the system of communal electorate but also extended its scope by incorporating the concession to the Depressed Classes also provided by the Poona Pact. The Muslims got one third of the seats in the federal legislature, although their number was much less than one third of the total population of the British India. Even the workers and women got separate representation, although they had not asked for it.

The electoral provisions of the Act were governed by the communal award of the British Government, as modified by the Poona Pact in respect of the scheduled castes. Under it, seats in the legislatures were divided among various communities and groups. Besides, there were separate constituencies for General, Muslims, European, Anglo Indian, Indian Christian and Sikh communities. All qualified electors who were not voters in a Muslims, European, Anglo Indian, Indian Christian and Sikh constituency were entitled to vote in a General constituency. Some of the General seats were reserved for the scheduled castes. All the members of

the scheduled castes who were voters in a General constituency, were to take part in a primary election for the purpose of selecting four candidates for election by the General Electorate. Except in Assam seats allocated also were divided among various communities. Moreover, there were separate constituencies for Labour, Landholders, Commerce and Industry etc. The sinister motive behind it was to separate the Harijans from the Hindu community and poison the political atmosphere with the evil of sectionalism.

The communal award of the British Government accentuated the communal decisions in the country, which paved the way for the eventual partition of India. Although in this new Act, franchise was extended however only about 10% of the total population got the right to vote. Franchise was mainly based on property qualification.[6]

2.1 Safeguards and Reservations

The Act of 1935 armed the Governor General and the Governors with far reaching powers in the name of defending the minorities against the tyranny of Hindus. The minorities naturally began to feel grateful to the rulers for the protection of their interests. They became their allies in arresting the growth of nationalism. The provisions of safeguards were merely a trick to empower the Governor General and Governors to override the Ministers and legislatures. The British diplomacy always used the Indian States, the Minorities and the Services as tools against the Congress.

2.2 Refusal to Grant Right of Self Determination

Another flaw in the constitution was its refusal to grant the right of self-determination to the Indians. The Indians had no right to make the constitution for themselves and the right to amend the constitution was not given to the Indian legislatures but to the Crown. The Indians were simply given the toy of Provincial Autonomy to play with. They received nothing substantial to feel contented.

2.3 Supermacy of the British Parliament

The new Act was very rigid and the supremacy of the British Parliament remained. No Indian legislature, federal or provincial was authorized to modify or amend it. Only the British Government had the power to make changes in it. The Indian legislature could only pray for a constitutional change by submitting a resolution to his Majesty's Government. Thus the new constitution was in no way an Indian constitution; it was an imposition on India by the British Parliament.

2. Abolition of India Council and Discretionary Powers of the Secretary of State

The Indians had always been very critical of the Indian council. The new Act abolished the Indian council but it created the new post of the 'Secretary of State' and his team of 'Advisers' whose number was not to be less than three and more than six. The control of the 'Secretary of State' over the transferred subject was greatly diminished. His control however remained intact over the discretionary powers of the Governor General and the Governor. This means that without the permission of the British Parliament the Popular Ministers of the Indian provinces could do nothing.

On the whole no new preamble was affixed to the Act of 1935 because the new constitution did not register any change in the British attitude towards Indians' sentiments. The preamble of the Act of 1919 was however added to the new Act, so as to appease the Indians that British Government was still committed to its promise of giving 'Dominion Status' to India. So there was nothing surprising if the Act of 1935 was received with disgust and resentment.

3. National Reaction Against the Act

Prof. Coup-land described the Act of 1935 as "a great achievement of constructive political thoughts." In his opinion "it made possible the transference of Indian destiny from British to Indian hands."[4]

But Indians, however, felt other-wise. So when it came it satisfied none. Even the impartial British statesmen like Mr. Attlee admitted that the new key note of the Act was mistrust of Indian. It was disappointing for it did not even make mention of Dominion status.

So every political party of India condemned the new draft for one reason or the other.

Mr. Jinnah, the leader of the Muslim League, described it as "thoroughly rotten, fundamentally bad and totally unacceptable."

According to C. Raja Gopalachari, "The new constitution is worse than diarchy.[5]

Pt. M.M. Malaviya remarked, "The new Act has been thrust upon us. It has a somewhat democratic appearance outwardly, but it is absolutely hollow from inside."

In the course of a press statement, Jawaharlal Nehru, the then congress president, reminded the country of April 1st, 1937-the day when

the "unwanted, undemocratic and antinational" constitution in the Government of India Act 1935, would be forced upon, the country against the wholehearted and unanimous will of the country." On another occasion Pt. J.L. Nehru condemned it as "a new charter of slavery", and "it was a machine with strong break but no engine."

Another critic affirmed that the Act, "Tests to the full Indian capacity for administration and Government exactly as a man's capacity for swimming is tested... by throwing him into a river with his hands and feel tied." To call the new constitution "an edifice to self government is a grim joke which the joker may enjoy but on those at whose expense. It is cracked "Remember, the new Federal structure has got to be fought tooth and nail. It is difficult to find suitable language to characterize it. It is disgusting, poisoning and offensive."

Mr. Fazal-ul-huq, premier of Bengal, declared that "under the act, there was to be neither Hindu Raj nor Muslim Raj."

Sri Shanmukhan Chetty opined, "It is indeed a far cry between the Government Act (of 1935) and Dominion Status ... India has control neither in the internal nor in the external affairs... the safeguards, reservations, special powers of the Governor General and the Governors, the weakness of the Indian legislatures and the Ministers in the Federal and Provincial Governments with no central responsibility and weak provincial autonomy, the Communal Award, the States' representation bought at the expense of British Indians, the financial and other economic drawbacks, half measures of the Indianisation of the army with no control over the Defence-all these things show...not...Dominion status."

Sri Shafaat Ahamed Khan wrote, "the Legislature (Federal) is so curiously composed and its procedure is so ingeniously contrived that it will find it difficult to function freely and independently. It will be destitute of organic unity, will lack the momentum of a common allegiance and national solidarity and many resolve itself into congeries of inconsistent and even destructive sections lacking the rudiments of leadership and team works."

The Act of 1935 was just like elephant teeth. In fact the policies of this act were adopted to control the spirit of Indian Nationalism by proposing the new Act, outwardly, the British Government showed that it was giving self-government to India but the provisions of the new Act were framed to divide India not only on a communal basis but also on a social basis. Theoretically it seemed that it was a great achievement of Indians' in their

constitutional and political life, but practically it was totally different and it was further 'a new instrument of bondage.'

In spite of all rejections the Congress and the League decided to fight the election which was very strange considering that when in December 1929 the Congress had declared the nation's aim to win complete independence then how did it accept the Act of 1935?

The declaration of J.L. Nehru[3], at the Lucknow session of the Congress in April 1936, gives the background for answer of this question in which he said that, "one of the principal reasons for our seeking election will be to carry the message of the Congress to the millions of voters and to the scores of millions of disenfranchised, to acquaint them with our future programme and policy, to make the masses realize that we not only stand for them but that we are of them and seek to co-operate with them in removing their social and economic burdens...."

Though the Congress accepted to fight the election but its main aim was to sensitize Indian masses against British Imperialism through constitutional means. In the election manifesto of the Congress, Nehru had said that, "... in order to prevent the operation of forces calculated to strengthen alien domination and exploitation, the Congress decided to contest seats in the coming elections to the Provincial Legislatures. But the purpose of sending Congressmen to the Legislature under the new Act is not to cooperate in any way with the Act but to combat it and to seek to end it... The new Legislature hedged and circumscribed by safeguards and special powers for the protection of British and other vested interests cannot yield substantial benefits and they are totally incapable of solving the vital problems of poverty and unemployment; but they will be used by British imperialism for its own purpose to the disadvantage or injury of the Indian people. The Congress representatives will seek to resist this. The Congress realizes that independence cannot be achieved through these Legislatures, nor can the problem of poverty and unemployment be effectively tackled.... The encouragement of Khadi and village industries has also long been a principal plank of the Congress programme... The treatment of political prisoners has long been a scandal in India..... Its entirely of the new Act by the Congress, eventually involves the rejection of the communal decision... We appeal to the country to give every support to the Congress in the elections that are coming. National welfare demands it. The fight for independence calls for it."[3]

In an another statement in November 1936, Nehru said that, "It was becoming clear that the fight was between two forces, the Congress as representing the will and freedom of the nation and the British Government in India and its supporters who opposed this urge and tried to suppress it."

Even if the League policy in respect of the new act was akin to the Congress policy, in actual ideology the two organizations deferred.

4. Its Impact on Indian National Politics & Results of The Elections and The Indian Nationalism

By the new Act, Indians, for the 1st time, had got the right of contesting elections and also got some other constitutional rights. Indirectly it increased the spirit of Indian nationalism. The new Act gave the background to Indians to fight against the British Government. For the first time they drafted their election manifestoes and they made the Indian masses aware of their social and constitutional rights. These things gave a new vision to the Indian masses and independence became a matter of 'life and death'. After this, the Indian struggle for freedom took a final turn.

After the first general election under the new Act held in the winter of 1936-37, the Congress found itself in absolute majority in the Legislative Assemblies of five provinces-Madras, Central Provinces, United Provinces, Bihar and Orissa. In Bombay the Congress along with two or three pro-Congress groups, could command a majority while in the North-West Frontier Province, Bengal and in Assam, it emerged as the largest single party.

The Muslim League, On the other hand showed a dismal performance. The results of the elections proved that the League had no base in the Muslim majority provinces of the Punjab, Bengal, Sind and N.W.F.P. Surprisingly enough it was in the Hindu majority provinces that the League showed some tangible success.

Mr. Jinnah was in a depressed mood. Rejected by the Muslim electorate, suspected by the orthodox leaguers and slighted by the British, he hoped for a recovery with the help of Congress. Quite for sometime after the election he was fondly trying for an understanding with the Congress for forming a ministry. So Jinnah thought of an experiment of a Congress-League coalition in U.P. but in the last, the negotiations broke down.

Some of the elected Muslim Legislatures in the U.P. Assembly, as elsewhere, were thinking in the meanwhile of joining the Congress because of its new approach to people's problems. To Jinnah these trends appeared most dangerous.

Rapidly did Jinnah transform himself into a spirited communal leader even though his vision for separation was yet to take shape. After this the Indian struggle got divided into two main streams. One was under the Congress and second was under the League. Though the main aim of both streams, was to get independence but both were totally opposite in their thinking. So after this when the Congress adopted any policy for struggle, the League opposed it, and when the League adopted any policy, the Congress rejected it.

At last in July 1937, Congress ministries were formed in Bombay, Madras, U.P.C.P., Bihar and Orissa. Soon after the Congress gained an absolute majority in the N.W.F.P. and a Congress Ministry was formed there. In October 1938, a Congress led coalition ministry also assumed charge in Assam. Thus Congress Ministries were formed in eight out of eleven provinces.[7]

Only in the Assemblies of Punjab and Sind, the Congress was comparative by in a minority. In Bengal, the Congress was the single biggest party. But in these three provinces coalition ministries and other parties were formed.

In their three year tenure, the Congress ministries concentrated on nation building activities and perhaps their great achievement was their new and sympathetic approach to the people, they declared themselves as servants of the people and the confidence they inspired in the masses that the interests of the latter were safe in the hands of the former.

The Congress ministries, however gave up office in October 1939, over the issue of India's having been dragged, or dragooned into the second world war, and of the failure of the British to clearly and categorically stating their aims, especially their treatment of as a free nation. On the registration of the Congress Ministries, the administration of the province concerned, except Assam, was taken over by the Governors under section 93 of the 1935 Act.

THE ACT OF 1935 AND ITS IMPACT ON FREEDOM STRUGGLE

The Government of India Act 1935, was introduced to check Indian Nationalism Provisions of the new Act were made to divide India into many parts by especially supporting Minorities and Depressed classes, but it satisfied none. Already the Congress was against the British

Imperialism but the result of the election made the League more aggressive not only against the Congress but also against the British Imperialism.

During the tenure of the Congress Ministries, the League carried on an intensive propaganda against the Congress, claiming that the rights and interests of the Muslims were jeopardized under the Congress regime.

After the resignations of Congress Ministries, Jinnah called on Muslims throughout India to mark and observe 22nd December as a day of 'Deliverance'.

After this the Muslim League passed a resolution of 'Pakistan' on 23rd March 1940.

During the Second World War, the League showed its sympathy with the British Government but it was only to get more facilities and powers against Congress.

On the other hand the Congress offered help to the British Government on two conditions-the first was that the British Government should recognize India's right to complete independence after the war, and secondly that it should agree to set up a national government composed of all parties immediately.

The aggressive attitude of the Congress compelled the British Government to concede some of its demands. At last the Viceroy issued a statement known as 'August Offer' on 8th August. But this offer could not give full assurance of independence to the Congress or the League. So the Congress and the League both rejected the offer.

After the rejection of the Congress demands by the British Government, once again the Congress was disappointed and in Wardha, Gandhiji unfolded his plane of 'Individual Disobedience', which started in October 1940.

After the failure of August offer the British Government sent the 'Crips Mission' to India, 1942, to get the cooperation of the Indians. But the Congress rejected this offer also and in the view of Gandhiji, it was a 'post dated cheque'.

By this time, the Congress had become more aggressive against the British attitude and it decided, under the leadership of Gandhiji, to start 'Quit India Movement' in August 1942. Gandhiji gave the slogan of 'Do or Die'.

The movement succeeded very well in awakening and emboldening the masses. It removed from Indian hearts the fear of bullets. The movement in fact prepared the ground for transfer of power. The

slogan of 'Do or Die' entered the souls of the people. This fury of unarmed agitation shook the roots of British rule in India.

One unfortunate result of the movement was that the British and the Muslims in their common hatred for the Congress came closer to each other. Mr. Jinnah acted as a staunch ally of the Government, and he tapped all his resources to help the British war effort.

After 1942, the British Government understood this fact very well that it was impossible to rule upon India till a long time. But in India, the struggle of freedom became divided into two streams and it was very difficult to decide how and to whom the power of administration might be given. So there were some other plans presented by the British like in 1945, the Wavell plan, in 1946, the cabinet Mission plan. But the Congress and the league rejected it and at last in 1947 but India was divided into two parts-India and Pakistan. Pakistan was the reward to Jinnah for his faithfulness to the Crown.

So the Act of 1935 was the real symbol of final struggle of freedom and indirectly it supported Indians' freedom struggle. In the light of this Act at last India became free in 1947.

References:

1. Indian Annual Register-1935,1936,1937,1938,1939,1940 Vol.I and Vol. II
2. Jawaharlal Nehru, Discovery of India, 1946
3. Dorothy Norman, Nehru, Vol.I 1950, Delhi
4. R.Coupland, Indian Politics, 1936-1942 (1943 Oxford)
5. Banerjee, A.C, Indian Constitutional Documents Vol. IV-1945
6. Chintamani and Masani, India's Constitution at work, 1940, Bombay
7. Joshi G.N., The new constitution of India, 2nd Edition, 1944.
8. B.L. Grover & Alka Mehta, A new look at Modern India History, Edition 2011

○

Registration No. V-36244/2008-09 ISSN :- 2395-0390

UGC Journal No. – 48402
JIFE Impact Factor – 3.21

Varanasi Management Review

A Multidisciplinary Quarterly International Refereed Research Journal

Editor in Chief
Dr. Alok Kumar
Associate Professor & Dean (R&D)
School of Management Sciences
Varanasi

Volume – IV No. – 1 (Jan. – Mar. 2018)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

CONTENTS

Varanasi Management Review

➲	A General view on cloths used by common people in Gupta Period ***Yogesh Tiwari***	01-04
➲	Effect of insect growth regulators on growth & development in *Pericallia ricini* ***Sumanbala Katiyar***	05-09
➲	L'homme et l'individualisme dans les Essais de Montaigne ***Manoj Kumar Singh***	10-13
➲	Community Participation in Development Projects ***Alka Tiwari***	14-29
➲	Tussle of Political Parties versus Judiciary in the Context of Right to Information Act ***Om Deepak Yadav***	30-34
➲	Water Problem in India: A Study of Bundelkhand Region ***Ravindra Kumar***	35-38
➲	The theory of Diaspora and Jhumpa Lahiri's *Unaccustomed Earth* ***Koel Hazra***	39-41
➲	U.P. Tenancy Act, '1939' ***Dr. Poonam Pandey***	42-46
➲	Suffering and Agony in R.K Narayan's Novel ***Anshu Singh***	47-50
➲	Consumer Durable Industry ***Shashank Shekhar Singh***	51-58
➲	Need for the Inclusion of Disaster Management in Urban Planning ***Desh Deepak Singh***	59-62
➲	e-tailing: Future of Retailing in India ***Sumit Kumar Singh***	63-67
➲	Value of Natural Habitat ***Priti Singh***	68-69
➲	Exploring Politics and Sports : A Historical Perspective ***Pankaj Kumar Mandal***	70-86
➲	Women Journalists in Electronic Media: Issues, Challenges and Prospects for Advancement in their Career ***Snehabrata Mukherjee***	87-92

U.P. Tenancy Act, '1939'

Dr. Poonam Pandey

The Government of India Act, 1935, proved to be a landmark in the history o national politics because of its far-reaching impact. Two main provisions of the Act wer the creation of Federation of India and the Introduction of Provincial Autonomy. Othe characteristics of the Act were the supremacy of the British parliament, secretary of stat and his council, diarchy at center, bicameral enlarged legislatures, enlarged electorate federal court etc. Thus the Act of 1935 granted little real power to the Indians.

When the Act of 1935 was passed the Congress rejected the Act, the League also rejected the federal part of the Act. But after some time the Congress and the League both decided to participate in the provincial elections. The first general elections under the new Government of India Act, 1935 was held in Feb., 1937. The Congress was able to secure an absolute majority in the legislative assemblies of five provinces – U.P., C.P., Madras, Bihar and Orissa. The Congress also emerged as the largest single party in the four provinces, viz., Bombay, Bengal, Assam and N.W.F.P. At the final count the Congress secured 711 out of the total 808 general seats. In U.P. the Congress captured 133 out of 228 seats. The Congress ministry of U.P. headed by Govind Ballabh Pant assumed office on July 17, 1937.

The U.P. was a difficult province both politically and economically. Pant's task was very difficult but his Government was the best Government during 1937-39 in India. The U.P. Congress Ministry attempted many reforms in different fields. One of them was the tenancy reform. In the U.P., the tenancy problem was treated in one comprehensive Act passed in October 1939 by the labours of the Congress Government spread over a period of two years. During the different stages of consideration in the assembly, nearly 3,000 amendments were tabled, of which 850 were actually moved and 370 were accepted. It was held as the Magna Carta of the Tenants for the fixation of rents by the government agency and for the abolition of a number of abuses or vexations and restrictions on tenants.

"Tenants" as Described in the Act –

The Act replaced 'statutory tenants' and 'the heirs' of statutory tenants by hereditary tenants. The following classes of tenants were recognized in the Act :-

1. Permanent tenure – holders
2. Fixed – rate tenants
3. Tenants holding on special terms in Oudh
4. Exproprietary tenants
5. Occupancy tenants
6. Hereditary tenants
7. Non-occupancy tenants

Every tenant in Oudh holding land under a special agreement of a judicial decision made or passed before the passing of the 'Oudh Rent Act (1886)' was called a tenant holding on special terms. Such tenants had all the rights and were subject to all the liabilities

* Associate Professor, Dept. of History, Vasant Kanya Mahavidyalaya , Kamachha, Varanasi

conferred and imposed on occupancy tenants in Oudh under the Act of 1939. These tenants were peculiar to Oudh and as their name indicates their rights and liabilities were not uniform.

'Hereditary tenants' formed the new class of tenants created by the Act. They formed the most important class and occupied the largest percentage of area in the province in Agra the statutory tenants and the heirs of statutory tenants who cultivated nearly 25 percent of the total cultivated area in the province under the 'Act of 1926', had acquired hereditary rights. Some non-occupancy tenants had also acquired this right. Similarly in Oudh, the statutory tenants and the heirs of statutory tenants, who cultivated nearly 70 percent of the total cultivated area in the province, under the Act of 1921, had became hereditary tenants – {United Provinces Tenancy Act (XVII) 1939}.

Other five classes of tenants were created by the previous Acts while tenants holding on special terms and hereditary tenants were introduced by the Act of 1939.

In brief, the hereditary tenants included the following classes of tenants –

1 Statutory tenants including Pahi-Kasht tenants who were liable to ejectment under Section 62-A (clause) of Oudh Rent Act (1921).

2 The 'heirs' of 'statutory tenants'.

3 Tenants in Oudh who could not acquire the rights of statutory tenancy under the provision of section 67 (b) of the Oudh Rent Act (1921).

4 Tenants in Oudh holding land specified in schedule 'D' to the Oudh Rent Act (1886), unless such land was exempted in section 30.

5 Tenants in Agra who held land from permanent tenure – holders before the passing of the 'Agra Tenancy Act (1926)' and were tenants at the time of passing of the Act (1939).

6 Tenants of tea states, which had been notified under Act II of 1926, but which had not been notified under section 30 (subsection 5) of the Act (1939).

As a result of the creation of this new class of tenants, the 'statutory tenants' and 'heirs of statutory tenants' in Agra and Oudh, had become 'hereditary tenants'. Their holdings were made heritable and their tenancy rights could not be terminated with their death. They could not be ejected by the landlords. Their rents could only be increased under the provisions of section 110, which provided rules for the framing of standard rates for hereditary tenants.

It is a cardinal principle of agricultural economics that the most essential needs of a tenancy are :- fixity of tenure and fair rents. The creation of hereditary tenancy had satisfied these two essential conditions and had placed before the tenants rights and independence, which they never enjoyed before. It is unfortunate that in the early years of British rule partly on account of ignorance and partly on account of political troubles, new rights in property were instituted.

It is, however, important to point out that the rights of proprietory of land could not be the same as those of the owner of a chattel or a commodity. They were always subject to the implied obligations of securing and cultivation of land for the support of the nation and of granting enough security to the cultivators to maintain them on the sail.

The Agra Tenancy Act (1926) and Oudh Rent Act (1921) provided for a considerable increase in the Sir area of the Zamindar or the taluqdar. In Agra a graduated scale was introduced according to which a landlord could acquire Sir upto a certain percentage of his proprietory interest in the Mahal. Landlords or permanent tenure holders having not more than 30 acres of land, could acquire Sir to the extent of 50 percent of their area; but if the area exceeded 30 acres and was less than 600 acres, not more than 50 percent of the area could be acquired as Sir land. In Oudh there was no such graduated scale and Sir area could not exceed one tenth of the total cultivated area of the village.

The increase in Sir area was inevitable, which meant, that a number of families would cease to be statutory tenants, and would either be dispossessed or reduced to the position of non-occupancy tenants. There was nothing in the Act to prevent the landlords from taking into his possession much of the gauhan (lands near the village) in the village, which generally did not amount to more than 10 or 15 percent of the total cultivated area. Similarly he could gradually take into possession much of the irrigated portion of the village. The result was that while the Acts granted rights to tenants. They provided means for these rights to be taken away.

Further the Acts imposed no restrictions on the sub-letting of Sir. And as no occupancy or statutory right could accrue in Sir, the tenant cultivating the Sir of the Zamindar remained a non-occupancy cultivator. Sub-letting was no less vicious in the case of a landlord than in the case of a tenant.

So there were many defects in the provisions Acts and to remove those defects attempt had been made in the Act of 1939. This Act had made the following important changes in the rules regarding Sir lands :-

1 Sir acquired by larger landlords under the Agra Tenancy Act (1926) had ceased to be Sir. This was a very important provision. It had rectified the fundamental defects of the Sir provisions of the previous Acts under which the landlords acquired a larger area, not for the purpose of self-cultivation but for subletting.

2 Sir of the smaller landlords acquired before or after the Agra Tenancy Act (1926) or the Oudh Rent Act (1921) would continue to be Sir under this Act.

3 Sir of the larger landlords acquired before the Agra Tenancy Act (1926) and the Oudh Rent Act (1921), which was not sublet, whatever its area, continued to be Sir under the Act of 1939. If the total Sir area, both cultivated by the landlord and the sublet area exceeds 50 acres, the whole of the self cultivated Sir, together with so much of the Sir let out as would make 50 acres, would be Sir under the Act. If the total Sir area, both let and un-let was less than 50 acres, the whole of it would be Sir under the Act.

4 Tenants who were cultivating Sir lands under the previous Acts, but which had ceased to be Sir under the Act of 1939, would acquire the right of hereditary tenants in such lands.

5 If a landlord had khudkasht land in addition to Sir the Khudkasht could be converted into Sir area.

The Act had laid down definite and important rules for the determination of rents for hereditary and occupancy tenants. The rules for the remission of rents and revenue had

also been given a statutory form in the sixth schedule to the Act. The following scale of remission had been provided for in the Act –

Loss measured in annas (per rupee of normal produce)	Relief in rent per rupee
Amounting to 8 annas but not	6 annas
Amounting to 10 annas	
Amounting to 10 annas but not	10 annas
Amounting to 12 annas	
Amounting to and exceeding 12 annas	10 annas

The most important provisions of the U.P.Act XVII of 1939 are outlined below:

First, the important provision of the Act was to unify the tenancy rights, which widely differed in the Agra and Oudh regions of the province. More than half of the tenants' land in Agra was held with an hereditary occupancy right acquired by twelve years possession only whereas in Oudh only a small area was thus protected and most tenants could count a statutory tenancy of only seven years. The new Act of 1939 safeguarded the position of the tenantry to a great extent. It gave all statutory tenants in Oudh as well as in Agra full hereditary rights in their holdings.

Secondly, landlords could prevent the growth of occupancy or statutory rights by cultivating land for 12 years after which the landlord was classed as 'Sir' and in such lands tenants could acquire no rights whatever. The new Act of 1939 cancelled this system. It allowed exceptions in the case of the smaller landlords who needed land for their own cultivation. By the Acts of 1921 and 1926 landlords could acquire tenants' land for many purposes, including setting up large farms subject to orders of a court. This provision was used to deny the hereditary rights or to oppress the tenants. By the new Act of 1939, the acquisition of landed property was limited to not more than five acres for a house, garden and grove and at the same time the scale of compensation was increased. The tenant was given the right to construct on his holding a residential house or any other building serving agricultural purpose without the permission of the landlord. He was also given an unrestricted right to plant trees on his holding.

The rents of hereditary tenants were to be determined periodically by special officers and tenants were entitled to pay at the same rate for ten years. In the fixation of rents, the government now introduced the principle that it should not exceed one fifty of the value of produce and the cost of production was to be taken into consideration. Both landlords and tenants in Oudh were given the right to claim that rents paid in kind should be commuted into cash. Thus the system prevalent in Agra was now extended to the whole of the United Provinces.

The Act also provided for certain privileges to the tenants, which they did not enjoy before the congress regime. A tenant was no longer to be liable to be arrested or imprisoned on failure to pay his rent. It in execution of a decree for arrears, ejectment was ordered, it could extend only to an area of which the rent did not exceed one-sixth of the arrears decreased. All receipts for rent had to be on a printed form sold by the government and the landlord was liable to pay a fine or even to court imprisonment, for habitual neglect to give receipts.

Before the Ministry brought the Bill in its final form to the legislature the divid line between 'small' and 'big' landlords that is, between those to be liberally treated by t measure and those who would suffer at least on paper was raised from payers of an annua revenue of Rs. 100 to those who paid Rs. 250.

Lastly we can say that the First Congress Ministry of U.P. was very popular due its reforms, specially agrarian and tenancy reforms. 'The National Herald' praising th achievements of the Pant ministry in its editorial dated 13th Sept., 1939 wrote, "it has bee rightly said that in the United Provinces the Congress administration is beyond doubt, bot efficient and democratic to the highest degree."

References :

1. Land Revenue Policy in the U.P. under British Rule – B.R.Mishra (Benaras, 1942).
2. United Provinces Tenancy Act (XVII) 1939.
3. Jugal Kishore – Congress Government in U.P., Allahabad, 1940
4. Pandey, Gyanendra – Ascendancy of Congress in Uttar Pradesh, Delhi, 1978
5. Mitra H.M. and N.N. (eds.) – The Indian Annual Register (1919-1947), Calcutta, Var.
6. Misra S.B. – The Administrative History of India, 1834-1947, Bombay, 1970
7. Pande B.N. (ed.) – A Centenary History of the Indian National Congress, Vol. II & III, New Delhi, 1985

(Jan. - Mar.) 2018

ISSN : 2350-0611

Research Explorer

IIJIF Impact Factor : 3.235

Approved by UGC (Journal No. : 48441)

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal Related to Law, Literature, Computer Science, Social Science, Management, Communication and Medical

Editor

Dr. Kamlesh Kumar Singh

Gyanam Vani Society

Varanasi (U.P.) India

CONTENTS

"Research Highlights"

➲	भारत के दिव्यांगजनों के लिए संवैधानिक प्रावधान एवं सुगम्य भारत अभियान ***किशन कुमार यादव***	01-06
➲	जगजीवन राम का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चिन्तन ***डॉ. मो. शाकिर***	07-28
➲	वैदिक धर्म की निरन्तरता : भारतीय पुनर्जागरण के सन्दर्भ में ***डा0 पूनम पाण्डेय***	29-38
➲	गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में जाति एवं व्यवसाय ***देवेश कुमार सिंह***	39-42
➲	गुप्त कालीन स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार : स्मृतियों के विशेष सन्दर्भ में ***विजय कुमार***	43-46
➲	अध्यापक एवं सूचना संचार एवं सूचना संचार प्रौद्योगिकी : बिलासपुर जिले के छात्राध्यापकों के संदर्भ में एक अध्ययन ***डॉ0 विभा मिश्रा*** ***पायल शर्मा***	47-51
➲	स्वामी विवेकानन्द का समाजवाद ***डॉ0 ब्रजेश कुमार प्रसाद***	52-55
➲	सप्तांग सिद्धान्त का पुनर्मूल्यांकन ***संजय कुमार यादव***	56-59
➲	आदिवासियों में कैशलेस अर्थव्यवस्था की सम्प्रेषणीय सामाजिक संज्ञान का अध्ययन (अनूपपुर जिले में निवासरत आदिवासियों पर आधारित विवेचन) ***डॉ. नागेन्द्र कुमार सिंह***	60-71
➲	गठबंधन सरकारों में सहयोगी दलों की बढ़ती भूमिका एवं प्रभाव ***रौशन जहाँ***	72-81
➲	वैदिक कालीन भारतीय समाज एवं विकासः एक विमर्श ***नवीन कुमार सिंह***	82-84
➲	बौद्ध साहित्य में प्रतिबिंबित शिक्षण व्यवस्था ***जितेन्द्र कुमार गोंड***	85-87
➲	झारखण्ड के जनजातीय समाज में गोत्र की परम्परा की ऐतिहासिकता ***डॉ0 बिरेन्द्र कुमार***	88-91
➲	बिरसा मुंडा का उलगुलान ***डॉ0 प्रवीण कुमार चंचल***	92-95

वैदिक धर्म की निरन्तरता : भारतीय पुनर्जागरण के सन्दर्भ में

डा० पूनम पाण्डेय*

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में से एक है। प्राचीन काल से आज तक भारतीय संस्कृति अपने समन्वयात्मक गुणों, अपने नैतिक मूल्यों के लिए विश्वविख्यात रही है। यह एक विचारणीय विषय है कि भारतीय संस्कृति मे ऐसा क्या है, जो इसकी निरन्तरता को आज तक बनाये हुए है। यद्यपि यह एक शाश्वत सत्य है कि इस भौतिक जगत् में जिसका उद्भव हुआ है, उसका अन्त भी सुनिश्चित है। किन्तु भारतीय संस्कृति इस तथ्य से परे है। भारतीय सभ्यता के उद्भव से लेकर आज तक हमारी संस्कृति ने बहुत से उतार–चढ़ाव देखे हैं, विदेशी आक्रमणों के रूप में आये बहुत से झंझावातों को झेला है। कई बार वक्त के थपेड़ों की मार से उसके रंग की चमक कुछ फीकी भी पड़ी है, पर विलुप्त होने से पहले ही उसने अपनी मलिनता को दूर कर पुनः अपनी रोशनी से सम्पूर्ण विश्व को चकाचौंध कर दिया। भारतीय संस्कृति की इस निरन्तरता का मूल है 'वैदिक धर्म'।

वैदिक धर्म से तात्पर्य है वेदों के आधार पर आचरित व अनुसरित धर्म. आज हम वेद के नाम से चार मंत्र संहिताओं को लेते हैं, जो हमारी सारी क्रियाओं के मूल हैं। वेद हिन्दू जाति की सबसे पुरानी व सबसे पवित्र पुस्तक है। वह न तो 'कुरान' की तरह धर्म पुस्तक है और न 'बाइबिल' की तरह महापुरुषों की वाणियों का संग्रहमात्र ही; बल्कि वह तो एक सम्पूर्ण साहेत्य है। दार्शनिकों का अभिमत है कि जिस प्रकार लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए चक्षुओं की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अलौकिक तत्वों के रहस्य को जानने के लिए वेद की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में मनु का कथन है कि पितृगण, देवताओं व मनुष्यों का सनातन व सर्वदा विद्यमान रहने वाला चक्षु वेद है। वेदों से उत्पन्न वैदिक धर्म दिव्य व अलौकिक है, जिससे प्रकृति व सृष्टि भी सम्पृक्त है। वैदिक धर्म जितना आध्यात्मिक आधार पर आरोपित है, उतना ही व्यावहारिक आधार पर भी। यही कारण है कि उसकी निरन्तरता आज भी बनी हुयी है; और आगे भी बनी रहेगी।

यदि हम भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में देखें तो हमें कई घटनायें ऐसी प्राप्त होंगी जिन्होंने अलग–अलग युगों में वैदिक धर्म के सिद्धान्तों के आधार पर समाज को पोषित किया है। 19वीं शताब्दी में भारत में हुआ पुनर्जागरण भी इसका एक स्पष्ट उदाहरण है। इस काल में भारतीय ज्ञान–विज्ञान, कला, संस्कृति समय के थपेड़ों से धूमिल पड़ चुकी थी। भारतीय समाज दासता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। ब्रिटिश शासन के शोषण व अत्याचारों से पीड़ित जनता कराह रही थी। वहीं दूसरी ओर मैक्समूलर जैसे कुछ विदेशी ऐसे भी थे, जो भारतीय धर्म व संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। वैदिक धर्म की सर्वकालिक प्रासंगिकता तथा गूढ़ रहस्यों के प्रति बरबस ही उनका ध्यान आकृष्ट होने लगा और उन्होंने वैदिक धर्म का अध्ययन प्रारम्भ किया। इसी समय एक दैदीप्यमान नक्षत्र की तरह भारतीय प्रभामण्डल पर राजा राम मोहन रॉय का उदय हुआ, जिन्होंने सुषुप्त भारतीय जनता को नींद से झकझोरा।

---

* एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

राजा राम मोहन रॉय व वैदिक धर्म :– राजा राम मोहन रॉय को भारतीय इतिहास में आधुनिक युग का अग्रदूत माना जाता है। वे हेगेल के समकालीन थे। उन्होंने धर्मदर्शन का विज्ञान के रूप में अध्ययन किया। उन्हें पराभौतिकी तत्वशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। अपनी विवेचनात्मक बौद्धिकता तथा सामाजिक हेतुवाद के कारण ही वे भारतीय पुनर्जागरण के पथ प्रदर्शक बन गये। उन्होंने एक सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। अपने विचारों को जन–जन तक पहुँचाने के लिए 1828ई० में उन्होने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की। यद्यपि परम्परागत हिन्दुत्व के लिए उनके अन्दर भक्तिमूलक श्रद्धा की भावना नहीं थी, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि वे वैदिक धर्म के विरोधी थे। उन्होने कभी वैदिककालीन सामाजिक व धार्मिक व्यवस्था के प्रति विरोध प्रकट नहीं किया। बल्कि उनके सामाजिक–धार्मिक सुधार आन्दोलन का आधार वैदिक परम्परायें ही थीं। चूँकि इस काल में परम्परागत हिन्दू धर्म में बहुत सारी बुराइयाँ आ चुकी थीं, जिन कुत्सित प्रथाओं ने उनके मन को गहरा आघात पहुँचाया। साम्प्रदायिकता, अन्धविश्वास, मूर्तिपूजा तथा सती प्रथा व दास प्रथा जैसी सामाजिक कुरीतियों ने उन्हें झकझोर कर रख दिया था। उन्होंने परम्परावादिता का विरोध किया। उनका मानना था कि परम्परा में अन्ध श्रद्धा का लाभ उठाकर बहुत सारे अविवेकपूर्ण कार्यों को बड़ा प्राचीन व पवित्र बना दिया जाता है, जबकि सामान्य ऐतिहासिक विश्लेषण से ही यह सिद्ध हो सकता है कि वे अविवेकपूर्ण कार्य हाल ही के उपज हैं। ''उनका कहना था कि यदि आप परम्परा को सर्वोपरि मानते हैं तब तो कर्म काण्ड व मूर्ति पूजा को छोड़कर शुद्ध ब्रह्म की पूजा करना सर्वथा आवश्यक है क्योंकि शुद्ध ब्रह्म की पूजा ही आपके धर्म की सबसे प्राचीन परम्परा है।''[1] उनका यह विचार वैदिक धार्मिक परम्परा के प्रति उनके समर्थन का द्योतक है।

इसी प्रकार तात्कालिक समाज में प्रचलित 'सती प्रथा' के विरुद्ध उन्होंने जो अभियान प्रारम्भ किया उसका आधार वैदिक समाज ही था। सोफिया फालेट के शब्दों में ''राजा राम मोहन रॉय ने हिन्दू धर्म ग्रन्थों के अपने गम्भीर ज्ञान के आधार पर यह प्रमाणित किया कि सती प्रथा धर्म संगत नहीं है।''[2] सती प्रथा एक शास्त्र विकृत कुसंस्कार है, इस सम्बन्ध में 1829 में उन्होंने एक पुस्तिका भी लिखी। श्रीमती फ्रांसिस के मार्टिन ने बंगाल हरकारा नामक समाचारपत्र में लिखा था कि – ''महान हिन्दू दार्शनिक राम मोहन रॉय की विशेष सहायता के बिना शायद कभी भी अंग्रेज सरकार के लिए कानूनन सती प्रथा रद्द करना सम्भव नहीं होता, परन्तु उनकी यह देन किसी के द्वारा स्वीकृत नहीं की गयी है।''[3] तात्कालिक समाज में प्रचलित अन्य कुरीतियों जैसे स्त्री अशिक्षा, जाति प्रथा, अस्पृश्यता, विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति न देना जैसी परम्पराओं के विरुद्ध भी उन्होंने कठोर शब्दों में विरोध प्रकट किया और इसके लिए भी उन्होंने वैदिक समाज व्यवस्था को ही आधार बनाया। इस रूप में उन्होंने वैदिक कालीन धर्म व समाज व्यवस्था का समर्थन किया।

राम मोहन रॉय भारत में ब्रिटिश शासन के प्रशंसक थे तथा निकट भविष्य में भी भारत व ब्रिटेन के सम्बन्धों को लाभदायक मानते थे। उनके इस विचार के कारण विद्वानों द्वारा उनकी कटु आलोचना की गयी है तथा उन्हें राष्ट्र विरोधी तक कहा गया है। किन्तु वे भारतीय स्वतन्त्रता के विरोधी कदापि नहीं थे। बल्कि यह तो उनकी दूरदर्शिता थी, क्योंकि उनका यह विश्वास था कि ''धर्म

---

[1] वी०एस०नरवणे – आधुनिक भारतीय चिन्तन, पृष्ठ 32

[2] राजा राम मोहन रॉय द्वितीय जन्म वार्षिक समारोह समिति पुस्तिका, पृष्ठ 76

[3] राजा राम मोहन रॉय द्वितीय जन्म वार्षिक समारोह समिति पुस्तिका, पृष्ठ 76

व समाज सुधार की अनुपस्थिति में केवल राजनीतिक विकास का कोई मूल्य नहीं रहेगा। चाहे राजनीतिक स्तर पर हम मुक्त हो जायें, पर यदि समाज का सुधार व विकास नही होगा तथा धार्मिक अन्धविश्वासों व पाखण्डों से हम ऊपर नहीं उठेंगे तो राजनीतिक स्वाधीनता खोखली होगी।" वे ये भी भली–भाँति जानते थे कि ब्रिटिश शासन के सहयोग के बिना भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है। इसीलिए वे भारत में ब्रिटिश शासन के समर्थक थे।

उन्होंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर बहुत बल दिया। उनका मानना था कि स्वतन्त्रता मनुष्य का अमूल्य धन है। वे सृजनात्मक आत्मा के अविचल स्वतन्त्रता के मूल्य को भली–भाँति समझते थे। इसी रूप में वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के भी समर्थक थे। भारतीय स्वतन्त्रता को राजा राम मोहन रॉय की देन का मूल्यांकन करते हुए विपिन चन्द्र पाल ने लिखा है कि "राजा पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता का सन्देश दिया। उनके लोग इस स्वतन्त्रता को खो बैठे थे। इस बात से उनको गहरा दुख हुआ। बाद में जब ब्रिटिश संस्कृति तथा चरित्र से उनका घनिष्ठ परिचय हुआ तो उन्हें लगा कि अंग्रेज अधिक बुद्धिमान तथा आचरण में अधिक दृढ़ व संयत हैं, इसलिए राजा का झुकाव उनके पक्ष में हो गया, ...। किन्तु वे इस विचार को कभी सहन नहीं कर सकते थे कि भारतीय जनता के उद्धार के लिए भारत का अनन्त काल तक ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत रहना आवश्यक है।"[4]

वास्तव में राम मोहन रॉय मानवतावादी थे तथा सार्वभौम धर्म के समर्थक थे। वे मानव जाति को एक परिवार तथा विभिन्न राष्ट्रों व जातियों को उसकी शाखायें मानते थे। वे नानक, कबीर, जायसी व चैतन्य के समन्वय के समर्थक थे। इसी रूप में उन्होंने 'वैदिक धर्म' का अध्ययन किया तथा उसका प्रचार–प्रसार किया। राम मोहन रॉय के विचार उस सेतु के समान थे, जो सुषुप्त भारतीय समाज को जागृत कर अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला था। प्रकाश में जाकर सही मार्ग को तलाशने के दायित्व का निर्वहन भी उन्होंने स्वीकार किया। यह कार्य अत्यधिक जटिल था। इसे पूर्ण करने के लिए पर्याप्त साधन व समर्थन भी उनके पास नहीं था। इसी कारण उन्हें कटु आलोचना का पात्र भी बनना पड़ा। इन सारे कार्यों को करने के लिए उन्होंने 'वैदिक धर्म' को आधार मानकर ही अपने विचार प्रस्तुत किये। भले ही वे पूर्णरूपेण वैदिक धर्म के समर्थक नहीं थे, किन्तु वे वैदिक धर्म के विरोधी भी नहीं थे। इस रूप में उन्होंने वैदिक धर्म की निरन्तरता को कायम रखने में निश्चित रूप से सहयोग किया।

स्वामी दयानन्द एवं वैदिक धर्म :– वैदिक धर्म को आधार बनाकर भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत के रूप में जिस कार्य का प्रारम्भ राजा राम मोहन रॉय ने किया था, उसे सम्पुष्ट कर जन–जन तक पहुँचाने का कार्य स्वामी दयानन्द ने किया। इस काल में दासता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ व असह्य वेदना को झेलता हुआ भारतीय समाज मूल भारतीय धर्म व दर्शन को भूल चुका था। स्वामी दयानन्द ने "वेदों की ओर लौटो" का नारा देकर निष्प्राण होते भारतीय समाज में नये जोश का संचार कर दिया। वे निर्भीक सन्देशवाहक, उदग्राभिभाषी तथा उच्च कोटि के समाज सुधारक होने के साथ–साथ वेदों के प्रकाण्ड पण्डित तथा उत्कृष्ट नैयायिक भी थे। उन्होंने वैदिक धर्म के आइने में न सिर्फ भारतीय धर्म व दर्शन को सम्पृक्त कर सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया बल्कि भारतीय जनमानस

---

[4] विपिन चन्द्र पाल "Ram Mohan as Reconstructor of Indian Life and Society", Calcutta Municipal Gazettee के दिसम्बर, 1928 के अंक में प्रकाशित

में राष्ट्रवाद का बिगुल भी फूँक दिया। उनकी रचना "सत्यार्थ प्रकाश" से उनके विचारों के सन्दर्भ में हमें विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। 1875 में उन्होंने बम्बई में आर्य समाज की स्थापना की थी, जिसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की शुद्ध रूप में पुनः स्थापना करना था क्योंकि तात्कालिक भारतीय समाज में प्रचलित हिन्दू धर्म व सामाजिक व्यवस्था में बहुत सी विकृतियाँ आ चुकी थीं, जो हमारे देश को कमजोर और खोखला कर रही थीं।

स्वामी जी का वेदों में अटूट विश्वास था और वे इन्हें अपौरुषेय मानते थे। वे जीवन की समस्त समस्याओं का वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर समाधान करना चाहते थे। उनका कथन था कि वेद शाश्वत, शुद्ध तथा आदि ज्ञान के स्त्रोत हैं। उनका दावा था कि वैदिक ज्ञान की पुरातन संहिताओं में स्वयं ईश्वर की ही वाणी निहित है। उन्होंने असंदिग्ध रूप से घोषणा की कि वेदों में आध्यात्मिक ज्ञान तथा वैज्ञानिक भौतिक ज्ञान दोनों के रहस्यों का समावेश है। उनकी मान्यता थी कि हिन्दू धर्म व वेद चिरन्तन, अपरिवर्तनीय, अकाट्य और ईश्वरीय है तथा केवल वैदिक धर्म ही सत्य और सार्वदेशिक है।

स्वामी जी का सामाजिक दर्शन भी वेदों पर आधारित था। वे भारतीय समाज में प्रचलित जाति प्रथा के कटु आलोचक थे तथा वैदिक कालीन धर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था के पोषक थे। उनका निश्चित व असंदिग्ध मत था कि मनुष्य अपने विकास के अनुकूल साधनों व विधियों के चयन में स्वतन्त्र है, किन्तु समाज से सम्बन्धित कार्यों में वह पराधीन है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि प्रत्येक को अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता और विकास को ध्यान में रखना चाहिए जिससे अन्त में वह सार्वलौकिक कल्याण का परिवर्धन कर सके। भारत के सामाजिक इतिहास में वह पहले सुधारक थे जिन्होंने शूद्र तथा स्त्री को वेद पढ़ने, ऊँची शिक्षा प्राप्त करने, यज्ञोपवीत धारण करने तथा अन्य सभी पक्षों से ऊँची जाति तथा पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त करने के लिए आन्दोलन किया। वे समाज में स्त्रियों की गिरी हुई दशा को राष्ट्र के पतन के लिए एक उत्तरदायी कारण मानते थे और इसीलिए उन्होंने पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा, बहुविवाह, देवदासी प्रथा, वेश्यावृत्ति, शाश्वत वैधव्य आदि जैसी सामाजिक बुराइयों की कटु आलोचना की।

स्वामी जी भारतीय चरित्र की दुर्बलताओं को देश के पतन के लिए उत्तरदायी कारण मानते थे। अतः उन्होंने उदासीनता, निष्क्रियता, आलस्य तथा भाग्यार्पण के स्थान पर शक्ति की सर्वोच्चता, पराक्रम, उत्साह तथा उत्तरदायित्व की सक्रिय भावना की शिक्षा दी। अपनी पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने लिखा है कि भारत के पतन के मुख्य कारण हैं : "पारस्परिक फूट, धार्मिक भेद, जीवन में शुद्धता का अभाव, शिक्षा की कमी, छूआछूत, जाति प्रथा, बाल विवाह जिसमें स्त्री व पुरुष को अपना जीवन साथी चुनने का अधिकार नहीं होता, इन्द्रिय परायणता, असत्यता तथा अन्य बुरी आदतें, वेदाध्ययन की अवहेलना तथा अन्य कुरीतियाँ।" अतः दयानन्द जी ने व्यक्ति के नैतिक शुद्धिकरण तथा सामाजिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया।

वास्तव में वे तत्कालीन भारत की जर्जरित हो रही सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था के स्थान पर वैदिक संस्कृति की शक्तिशाली तथा शुद्ध भावना को पुनः जीवित करना चाहते थे। वे जन्मजात स्वभाव से ही अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने वाले थे। उनका कथन था : "संसार अज्ञान तथा

अन्धविश्वास की श्रृंखला में जकड़ा हुआ है। मैं उस श्रृंखला को तोड़ने तथा दासों को मुक्त करने के लिए आया हूँ।''[5] वास्तव में दयानन्द जी के वेदवाद में राष्ट्रीय भावना निहित थी।

चूँकि दयानन्द जी के जीवनकाल में भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लौह शासन में था। 1857 के संग्राम की विफलता के फलस्वरूप अंग्रेजी शासन सर्वत्र सुदृढ़ हो गया था। इसके अतिरिक्त ईसाई सभ्यता देश की पुरानी संस्कृति पर प्रहार कर रही थी। जैसा कि लाला लाजपत राय ने अपनी पुस्तक 'आर्य समाज' में उद्धृत किया है कि ''दयानन्द को ईसाइयत के प्रसार से भय था, क्योंकि वे समझते थे कि किसी विदेशी पंथ को अंगीकार कर लेने से राष्ट्रीय भावना जिसका वे पोषण करना चाहते थे, संकट में पड़ जायेगी।'' स्वामी जी यह मानते थे कि धर्म ने ही भारत की महान विपत्तियों के समय रक्षा की है, इसीलिए उन्होंने वेदों के पुरातन आदर्शवाद को पुनर्जीवित करने का उत्साहपूर्वक समर्थन किया। इसके लिए उन्होंने विवेकशून्य अन्धविश्वासों तथा परम्परावाद के विरुद्ध वीरतापूर्वक संघर्ष किया और विवेक एवं सत्य की पूजा करने पर बल दिया।

भारत के लिए उनके मन में गहरा अनुराग तथा उत्कट प्रेम था। अपनी रचनाओं में उन्होंने देश की राजनीतिक दासता पर शोक प्रकट किया है। आधुनिक भारत के वे पहले भारतीय थे जिन्होंने राष्ट्रवाद के सन्देशवाहक के रूप में गौरवपूर्ण अतीत से प्रेरणा लेकर 'स्वराज्य' का नारा लगाया। उनका कहना था – ''सुशासन, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वशासन का स्थान नहीं ले सकता है।'' उनका मानना था कि अपने स्वत्व और अधिकारों की रक्षा के लिए भौतिक बल आवश्यक है। अतः उन्होंने भारतीयों के 'शारीरिक सौष्ठव' पर विशेष बल दिया। इसके लिए व्यायाम व प्राणायाम को नित्यकर्म में सम्मिलित करना आवश्यक बताया। उनका मानना था कि कमजोर और विकलांग नागरिकों से राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकती है। फलस्वरूप हिन्दू धर्म के अनुयायियों में एक नया आत्मविश्वास, आत्मपरीक्षण तथा आत्मशुद्धि की भावना जागृत हुयी।

दयानन्द जी के राष्ट्र प्रेम का ही परिणाम आर्य समाज द्वारा चलाया गया 'शुद्धि आन्दोलन' था जिसके अन्तर्गत लोगों को अन्य धर्मों से हिन्दूधर्म में लाने का पहली बार प्रयत्न किया गया। परिणामतः ऐसे बहुत सारे भारतीय, जिन्होंने विभिन्न कारणों से बौद्ध, इस्लाम या ईसाई धर्म को अंगीकृत कर लिया था, उनके लिए पुनः हिन्दू धर्म में वापस लौटने का मार्ग प्रशस्त हुआ। वह प्रथम भारतीय थे जिन्होंने भारतीयों को 'स्वदेशी' का पाठ पढ़ाया; जिसकी प्रेरणा से आगे चलकर तिलक ने 'स्वदेशी व बहिष्कार आन्दोलन' चलाया तथा बाद में गाँधी जी ने इसी 'स्वदेशी' को अपने आन्दोलनों का आधार बनाया, जिसका अन्तिम व सुखद परिणाम 1947 ई० में भारतीय स्वतन्त्रता के रूप में भारतीयों को प्राप्त हुआ।

स्वामी विवेकानन्द एवं वैदिक धर्म :– आर्य समाजी आन्दोलन के समकालीन ही एक और सामाजिक धार्मिक सुधार आन्दोलन भी भारत में हुआ, वह था रामकृष्ण आन्दोलन। इसके प्रणेता रामकृष्ण परमहंस जी थे, किन्तु आन्दोलन के रूप में इसे प्रचारित करने का श्रेय उनके शिष्य विवेकानन्द जी को है। यह आन्दोलन भी पूर्णतः वैदिक धर्म के आदर्शों पर आधारित था। स्वामी रामकृष्ण जी को भारतीय विचार व संस्कृति में पूर्ण आस्था थी, परन्तु वे सभी धर्मों को सत्य मानते थे। वे मूर्तिपूजा में विश्वास रखते थे और उसे शाश्वत, सर्वशक्तिमान ईश्वर को प्राप्त करने का एवं साधन मानते थे। वह ईश्वर प्राप्ति के लिए उसके प्रति निःस्वार्थ और अनन्य भक्ति में आस्था रखते थे तथा कर्मकाण्डों

[5] योगी दयानन्द की आत्मकथा

के विरोधी थे। उन्होंने तीनों प्रकार की तान्त्रिक, वैष्णव व अद्वैत साधना की और अन्त में निर्विकल्प समाधि की स्थिति को प्राप्त कर 'परमहंस' कहे गये। स्वामी विवेकानन्द ऐसे योग्य गुरू के योग्य शिष्य थे।

विवेकानन्द जी का व्यक्तित्व शक्तिशाली, तेजस्वी तथा सर्वतोन्मुखी था। उनके अन्दर रहस्यात्मक अनुभूति भी थी तथा अद्वैत वेदान्तवादियों के परमार्थ सत् के साथ उनका सामंजस्य भी था। वे एक मनीषी भी थे और आध्यात्मवादी वेदान्त के रहस्यों, यूरोपीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान के मूल सिद्धान्तों से भली–भाँति परिचित थे तथा मनुष्य के कष्टों का निवारण करने के लिए उनके मन में ज्वलन्त उत्साह था। उन्होंने अपनी प्रचण्ड इच्छाशक्ति को भारत के पुनरुद्धार के कार्य में लगा दिया। उनका व्यक्तित्व दो प्रकार से अद्भुत था – प्रथम, उनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी, दूसरे उनका मन देश के जीवन में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक बुराइयों को देखकर छटपटाया करता था। इसलिए उन्होंने भारत के पतन के प्रमुख कारणों को ढूँढ़ा और उनके निराकरण पर बल दिया। उनके अनुसार पतन के ये कारण थे – छुआछूत, श्रद्धा का अभाव, अंग्रेजियत व पाश्चात्य भौतिकवादी संस्कृति के प्रति अत्यधिक आकर्षण, बेईमानी, शारीरिक विकास की उपेक्षा, छात्र भावना का पतन और कुछ सीखने के प्रति उदासीनता, भय–ग्रंथी अथवा स्वयं को हीन मानने की मनोदशा, मौलिकता तथा साहस की कमी, आलस्य, संकीर्ण दृष्टिकोण, दुर्बलता, पिछड़ापन तथा धर्म की उपेक्षा। उन्होंने भारत में व्याप्त अस्पृश्यता व रूढ़िवादिता पर कटु प्रहार किया। आत्मा को छू देने वाले शब्दों में उन्होंने कहा – ".....भारत के करोड़ों गरीबों के दुख व पीड़ा के लिए कितने लोग असल में रोते हैं? क्या हम मनुष्य हैं? हम उनकी जीविका व उन्नति के लिए क्या कर रहे हैं? हम उन्हें छूते भी नहीं और उनकी संगति से दूर भागते हैं। ..... हमारा सनातन धर्म कैसा तुच्छ व भ्रष्ट हो गया है। अब हमारा धर्म किसमें रह गया है? केवल छुआछूत में और कहीं नहीं।"[6] वे सबसे बड़े समाजवादी व राष्ट्रवादी थे जिन्होंने अमीर व गरीब के भेद को ठुकराकर पद दलितों को सीने से लगाने का न सिर्फ सन्देश दिया बल्कि स्वयं के जीवन में यह करके भी दिखाया। उन्होंने बाल विवाह, शाश्वत वैधव्य, जाति प्रथा जैसी प्रचलित कुरीतियों का विरोध किया। वास्तव में वे वैदिक कालीन सामाजिक परम्पराओं के पोषक थे।

विवेकानन्द जी ने हिन्दू धर्म को सार्वभौम धर्म के रूप में प्रमाणित करने का कार्य किया। वे हिन्दू धर्म को सभी धर्मों की जननी मानते थे। उन्हें हिन्दू धर्म की महानता और सर्वदेशिकता में अखण्ड विश्वास था और वे यह कहते अघाते नहीं थे कि "पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो।"[7] परन्तु उन्हें इस बात की पीड़ा थी कि पाखण्डी पण्डितों और पुरोहितों ने धर्म के नाम पर स्वार्थ का विकास कर हिन्दू धर्म को कलंकित कर दिया है। वे वैदिक धर्म से लेकर वैष्णव धर्म तक सम्पूर्ण हिन्दुत्व के प्रतिनिधि थे। विवेकानन्द जी की परिभाषा के अनुसार "धर्म वह नैतिक बल है जो व्यक्ति व राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है।"[8] उन्होंने भारतीय समाज को शक्ति व निर्भयता का सन्देश दिया। उन्होंने गरजते हुए शब्दों में कहा था – "शक्ति जीवन है और दौर्बल्य मृत्यु है।" उनका विचार था कि भारतीय संस्कृति

---

[6] स्वामी विवेकानन्द पत्रावली, प्रथम भाग, पृष्ठ 98

[7] स्वामी विवेकानन्द पत्रावली, द्वितीय भाग, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृष्ठ 80

[8] 'The Mission of Vedanta" नामक व्याख्यान से The Complete Works of Swami Vivekananda जिल्द 3, पृष्ठ 190

की नींव आध्यात्मिक है इसलिए पश्चिम के लिए उसका विशेष ध्येय, सन्देश है।[9] पश्चिम के लोग भौतिक, शारीरिक तथा व्यापारिक सन्तोष और सफलताओं में आवश्यकता से अधिक व्यस्त हैं। इसलिए पश्चिमी संस्कृति में उन गम्भीर धार्मिक मूल्यों को समाविष्ट करना आवश्यक है जिसका पोषण और समर्थन पूर्व के ऋषियों–मुनियों ने किया है। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि अन्ततोगत्वा भारतीय विचारधारा इंग्लैण्ड को विजय कर लेगी।[10] उनका कथन था कि भारत की प्रतिभा मुख्यतः दर्शन तथा धर्म में व्यक्त हुई है। भारतीय संस्कृति के नेताओं का प्रधान उद्देश्य उन शाश्वत सत्यों का साक्षात्कार करना रहा है, जिसका प्रतिपादन धर्मग्रन्थों में किया गया है। यद्यपि वे भारत की सांस्कृतिक महानता के स्पष्टवादी प्रचारक थे, किन्तु साथ ही साथ उन्होंने प्रचलित सामाजिक अनुदारता के विरुद्ध विध्वंसकारी योद्धा की भाँति संघर्ष भी किया।

वास्तव में विवेकानन्द जी ने उपेक्षित तथा आलोचना के पात्र बने हिन्दू धर्म को एक नवीन हिन्दू धर्म के रूप में प्रचारित किया। उनका विश्वास था कि "अध्यात्म विद्या के सन्दर्भ में पृथ्वी का कोई भी राष्ट्र हिन्दुओं का मार्गदर्शन नहीं कर सकता है। 1893 ई० में शिकागो में हुयी 'धर्मों की संसद' में न सिर्फ भारत के प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने भाग लिया बल्कि अपनी विद्वतापूर्ण विवेचना के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के सम्मुख हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को उन्होंने साबित भी कर दिया। यहाँ दिये अपने वक्तव्य के एक अंश में उन्होंने कहा था, "..... हिन्दू जाति ने अपना धर्म अपौरुषेय वेदों से प्राप्त किया है। उनकी धारणा है कि वेद अनादि और अनन्त हैं। श्रोताओं को, सम्भव है, यह हास्यास्पद मालूम हो और वे सोचें कि कोई पुस्तक अनादि और अनन्त कैसे हो सकती है। परन्तु वेद का अर्थ है भिन्न–भिन्न कालों में भिन्न–भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक तत्वों का संचित कोष। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्यों के पता लगने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया था और आज यदि मनुष्य जाति उसे भूल भी जाय, तो भी यह नियम अपना काम करता ही रहेगा, ठीक यही बात आध्यात्मिक जगत को चलाने वाले नियमों में सम्बन्ध में भी है।[11] यहाँ उनके भाषण का मूल यह था कि हमें भौतिकवाद तथा आध्यात्मकवाद के बीच एक स्वस्थ सन्तुलन स्थापित करना है। उन्होंने समस्त संसार के लिए एक ऐसी संस्कृति की परिकल्पना की जिसमें पश्चिम के भौतिकवाद तथा पूर्व के आध्यात्मवाद का सामंजस्यपूर्ण सम्मिश्रण हो, जो समस्त संसार को प्रसन्नता दे। इस प्रकार जिस समय भारत का बौद्धिक वर्ग पश्चिम का अनुकरण करने में व्यस्त था, उस समय उन्होंने निर्भीकतापूर्वक यह घोषणा करके कि पश्चिम को भारत से बहुत कुछ सीखना है, राष्ट्रवाद व देशभक्ति की एक लहर भारतवासियों में उत्पन्न कर दी। उनका मानना था कि भारत में दृढ़ व स्थायी राष्ट्रवाद का निर्माण धर्म के आधार पर ही किया जा सकता है, क्योंकि राष्ट्र के अवयवी विकास के लिए आवश्यक है कि लोगों में उदारता, ब्रह्मचर्य, प्रेम, त्याग तथा निग्रह का गुण विद्यमान हो। जिस युग में विश्व संशयवाद, विनाशवान और भौतिकतावाद से पीड़ित था, उस समय अद्वैत वेदान्ती के रूप में विवेकानन्द जी ने हिन्दू धर्म को आधार बनाकर सार्वभौम धार्मिक भावना को पुनर्जीवित करने का सन्देश दिया।

---

[9] The Complete Works of Swami Vivekananda जिल्द 5, पृष्ठ 120-21

[10] शिकागो वक्तृता, स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ 18

[11] "India's Mission", Sunday Times, लन्दन 1896, The Complete Works of Swami Vivekananda, जिल्द 5 में पुनर्मुद्रित (मायावती मेमोरियल संस्करण 1936), पृष्ठ 118-24

डॉ० एनी बेसेण्ट तथा वैदिक धर्म :– स्वामी दयानन्द व स्वामी विवेकानन्द जी ने धूमिल पड़ चुकी भारतीय धर्म व संस्कृति की चमक को इस तरह निखारा कि भारतीय तो क्या विदेशी भी वैदिक धर्म व संस्कृति से प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सके। कई विदेशी तो ऐसे भी थे, जिन्होंने भारतीय धर्म व संस्कृति का न सिर्फ अध्ययन किया; बल्कि उसे ग्रहण कर उसका प्रचार–प्रसार भी किया। थिओसॉफिकल सोसाइटी ऐसी ही एक संस्था थी, जो उन पश्चिमी विद्वानों के द्वारा स्थापित की गयी थी, जो भारतीय संस्कृति और विचारों से बहुत प्रभावित थे। 1875 ई० में मैडम एच०पी०ब्लावेट्स्की नामक एक जर्मन–रूसी रक्त की महिला ने इस सोसाइटी की नींव अमेरिका में रखी थी। तदनन्तर कर्नल एम०एस०ऑलकॉट भी उनसे जा मिले। 1882 ई० में उन्होंने अपनी सोसाइटी का मुख्य कार्यालय मद्रास के अड्यार क्षेत्र में स्थापित किया। डॉ० एनी बेसेन्ट, जो कि एक आयरिश महिला थीं, जिनका ईसाई मत से विश्वास उठ गया था, 1882 में इस संस्था के सम्पर्क में आयी और इसकी सदस्या बन गयी। 1891 में मैडम ब्लावेट्स्की की मृत्यु के पश्चात् वे भारत आयीं और कर्नल आल्कॉट की मृत्यु के पश्चात् 1907 में वे इसकी अध्यक्षा बनीं तथा मृत्यु पर्यन्त 1933 तक इस पद पर बनी रहीं। इस संस्था को डॉ० बेसेण्ट ने अत्यधिक लोकप्रिय बनाया।

डा० एनी बेसेण्ट को भारत के प्राचीन धर्म में अगाध विश्वास था। भारतीय विचार व संस्कृति से वे भली–भाँति परिचित थीं। धीरे–धीरे वह पूरी तरह से भारतीय हो गयीं – न केवल विचारों से अपितु वस्त्र, भोजन, मेल–मिलाप और सामाजिक शिष्टाचार से भी। भारत में थियोसॉफिकल सोसाइटी उनकी देख–रेख में हिन्दू पुनर्जागरण का आन्दोलन बन गयी। वे परम्परागत हिन्दू धर्म के व्याख्यान देती हुयी तथा शिक्षण संस्थायें स्थापित करती हुयी सारे भारत में घूमती रहीं, वैदिक व उपनिषदिक सिद्धान्तों का प्रचार किया तथा समूचे हिन्दू धर्म का विकास किया, जिसमें वेद, उपनिषद, पुराण, महाकाव्य, कथावार्ता आदि सभी सम्मिलित थे। उन्होंने हिन्दुत्व के दर्शन, नीति, पूजा विधि, योग, अवतारवाद, देववाद आदि सभी का समर्थन किया तथा हिन्दू संस्कृति की महानता का उद्घाटन करने के अथक प्रयास किये। दूसरे देशों के स्त्री–पुरुषों को हिन्दू दर्शन और संस्कृति के पक्ष में प्रभावित करने में उनकी प्रमुख भूमिका थी और वह भी ऐसे समय में जब भारत का युवा वर्ग स्वयं अपने ही धर्म और संस्कृति से अपरिचित हो गया था। उन्होंने धर्म व संस्कृति की एक सार्वदेशिक पाठ्यपुस्तक तैयार की जिसमें सभी श्रेष्ठ धर्मों के मौलिक सत्य का संग्रह किया गया तथा यह मान्यता प्रकट की कि अन्य सभी धर्मों की तुलना में हिन्दू (वैदिक) धर्म में सत्य अधिक पाया जाता है। उन्होंने भारतीयों में आत्मविश्वास तथा राष्ट्र निर्माण की भावना जागृत की। उनके द्वारा भारतीयों की शिक्षा के लिए ही 1898 में बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज की नींव रखी गयी, जहाँ हिन्दू धर्म व पाश्चात्य वैज्ञानिक विषय पढ़ाये जाते थे। आगे चलकर 1916 में यही बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय बन गया। इतना ही नहीं उन्होंने भगवद्गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया तथा भगवद्गीता के अध्ययन के संकेत के लिए 'हिंट्स ऑन द स्टडी आफ द भगवद्गीता' नामक पुस्तक की रचना भी की, जो हिन्दू धर्म व दर्शन में उनकी गम्भीर आस्था का प्रमाण है।

वे भारत को अपनी मातृभूमि कहती थीं। एक विदेशी होने के बावजूद डॉ० एनी बेसेण्ट ने तात्कालिक भारतीय समाज में प्रचलित कुरीतियों तथा महिलाओं की दीन–हीन दशा के विरुद्ध भी आवाज़ उठायी। उनके सहयोग से ही भारतीय नारी अपनी स्वतन्त्रता, अपने अधिकार और अपने उचित स्थान को पाने की दिशा में आगे बढ़ी। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि नारी को अपना पुराना

(वैदिक कालीन) गौरव दिये बिना, उसके अधिकारों की समुचित रक्षा किये बिना भारत वास्तविक अर्थों में कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। उनकी प्रेरणा से ही "वीमेन्स इन्डियन एसोसिएशन" की स्थापना हुयी, जिसकी सर्वप्रथम अध्यक्षा वे स्वयं बनीं। इसके साथ–साथ अल्प–आयु में लड़के–लड़कियों के विवाह की परम्परा, बाल वैधव्य, जाति प्रथा, अस्पृश्यता जैसी कुरीतियों की उन्होंने कटु आलोचना की। वे वैदिक कालीन सामाजिक व्यवस्था की समर्थक थीं। उन्होंने सच्चे हृदय से हिन्दू समाज को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया और इसके लिए डॉ० भगवानदास की सहायता से उन्होंने "सनातक धर्म सीरिज़" के शीर्षक से हिन्दू धर्म पर पाठ्य पुस्तकें भी लिखीं। उन्होंने हिन्दुत्व का गौरवगान किया तथा भारतीय सभ्यता को आधुनिक युग की बरसाती सभ्यताओं से अधिक श्रेष्ठ मानकर अभिनन्दित किया।

भारतीय धर्म व संस्कृति के प्रति उनके अदम्य प्रेम के कारण ही उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध हो रहे भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलनों में भी बढ़–चढ़कर भाग लिया। भारतीय राष्ट्रवाद तथा राजनीति पर उन्होंने दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे – 'इण्डिया, ए नेशन' और 'हाउ इण्डिया रॉट फॉर फ्रीडम'। उन्होंने अपनी रचनाओं में भारतीय राष्ट्रवाद को धार्मिक दिशा देने की सिफारिश की। 1913 से 1919 तक वे भारतीय राजनीति में सक्रिय रहीं तथा 1916 में तिलक के साथ मिलकर उन्होंने होमरूल आन्दोलन भी चलाया। डॉ० बेसेण्ट यह मानने को तैयार नहीं थीं कि भारत को राष्ट्र बनने का पाठ पश्चिम ने सिखाया था, बल्कि उनका मानना था कि "यह तो अतीत से ही एक राष्ट्र था। इसके सम्पूर्ण साहित्य, दर्शन व कलाओं में जीवन्त राष्ट्रीय भावना की गहरी तथा व्यापक तरंग विद्यमान रही है। विश्व में अनेक सभ्यताओं का उदय हुआ है, किन्तु कालान्तर में वे भूमिसात हो गयीं। किन्तु भारत अपने राष्ट्रवाद के धार्मिक स्त्रोतों के प्रति वफादार बना रहा, इसलिए उसकी प्राणशक्ति अक्षुण्ण रही, और वह अपनी खोयी हुयी शक्ति को पुनः प्राप्त करने के योग्य बना रहा। यह कहना 'मूर्खतापूर्ण' तथा 'बेहूदा' है कि भारत में राष्ट्रीयता की भावना का उदय ब्रिटिश शासन का परिणाम है।"[12] 1917 में आयोजित कलकत्ता कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था कि ".....शीघ्र ही हम भारत को गर्वीला, आत्मविश्वासी, शक्तिशाली तथा स्वतन्त्र देखेंगे, वह एशिया का वैभव व विश्व का प्रकाश तथा वरदान बनेगा।" उन्होंने भारतीय समाजशास्त्र पर 'द इण्डियन आइडियल्स' नामक पुस्तक की रचना भी की।

निष्कर्ष :– इस प्रकार भारतीय पुर्नजागरण के सन्दर्भ में उद्धृत वैदिक धर्म व संस्कृति की निरन्तरता के सन्दर्भ में उपर्युक्त युग पुरुषों के विचार तो एक उदाहरण मात्र हैं। इस काल में अपने विचारों से इन विचारकों ने सुषुप्त भारतीय संस्कृति में नये प्राण फूँक दिये जिसका एक महत्वपूर्ण परिणाम भारत की स्वतन्त्रता थी। फलतः हम कह सकते हैं कि वैदिक धर्म की प्रासंगिकता तो बीते हुए प्रत्येक काल में सर्वसिद्ध हो चुकी है। आने वाले कालों में भी निश्चित रूप से इसके महत्व में कोई कमी नहीं आयेगी। जब तक पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, वायु, जल का अस्तित्व रहेगा; वैदिक धर्म की निरन्तरता बनी रहेगी क्योंकि सम्पूर्ण विश्व में वेद ही वह अमूल्य निधि है, जो मानव के आध्यात्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा मानवीय चिन्तन को दिशा प्रदान कर सम्पुष्ट करते हैं। वेदों की इसी महत्ता के कारण ही भारतीय धर्मशास्त्रों में उसे नित्य, अपौरुषेय अनादि कहा गया है। इस दृष्टि

[12] एनी बेसेण्ट – "Shall India Live or Die?", 1925 पृष्ठ 38

से बेहद स्वयंभूत स्वयंप्रकाश और स्वयंप्रमाण है। फलतः वैदिक संस्कृति की निरन्तरता भी प्रत्येक युग में कायम थी और आगे भी बनी रहेगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ :–

	लेखक	ग्रन्थ	संस्करण	प्रकाशक
1	डा० अमरेश्वर अवस्थी, डा० राम कुमार अवस्थी	आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन	संस्करण, 1991	रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर
2	डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा	आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन	तृतीय संस्करण, 1982-83	लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा
3	डॉ० कुमुदिनी श्रीवास्तव	स्वामी दयानन्द का दर्शन तथा धर्म	प्रथम संस्करण, 1982	अनुपम प्रकाशन, पटना
4	यशपाल एण्ड ब्रदर	आधुनिक भारत का इतिहास : एक नवीन मूल्यांकन	तेरहवाँ संस्करण, 1996	एस०चन्द्र एण्ड कम्पनी लिमिटेड, रामनगर, नई दिल्ली
5	एल०पी०शर्मा	आधुनिक भारत	बारहवाँ संस्करण, 1990	लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा
6	जे०पी०मिश्रा	आधुनिक भारत	प्रथम संस्करण, 1993	प्रतिमान प्रकाशन, इलाहाबाद
7	डॉ० श्रीकान्त पाठक	प्राचीन भारतीय धर्म व दर्शन	संस्करण, 2001	भवदीय प्रकाशन, अयोध्या, फैजाबाद
8	इन्द्र प्रसाद सिन्हा	धर्म दर्शन की रूपरेखा	चतुर्थ संस्करण	मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी
9	लक्ष्मी निधि शर्मा	धर्म दर्शन तथा धर्म	नवीन एवं संशोधित संस्करण	गंगासरन एण्ड ग्रैण्ड सन्स, वाराणसी
10	दामोदर शैरोला	भारतीय दर्शन	प्रथम संस्करण, 1962	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद